ओझा निबन्ध संग्रह

तृतीय भाग



[साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ के इतिहास और पुरातत्व-विभाग के तत्वावधान में सम्पादित]

लेखक

स्व० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा



१९५४

साहित्य-संस्थान,

राजस्थान विश्व विद्यापीठ

उदयपुर (राजस्थान)

प्रकाशकः—
अध्यक्ष, साहित्य-संस्थान,
राजस्थान विश्व विद्यापीठ
उदयपुर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण, मार्च १९५४
मूल्य ६)

मुद्रक—
व्यवस्थापक
विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर

प्रकाशकीय निवेदन

राजस्थान के प्राचीन साहित्य, लोक साहित्य, इतिहास एवं कला विषयक शोध-कार्य को राजस्थान के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये अत्यावश्यक और सर्वथा अनिवार्य समझ कर राजस्थान विश्व विद्यापीठ (तत्कालीन हिन्दी विद्यापीठ,) उदयपुर ने वि० सं० १९९९ में "साहित्य-संस्थान" की स्थापना की थी। संस्था की योजनानुसार साहित्य-संस्थान के अन्तर्गत कई महत्वपूर्ण प्रवृतियाँ प्रारम्भ की गई थी जो अब बहुत कुछ विकसित और विस्तृत हो चुकी हैं; जैसे:—

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, २. राजस्थान में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, ३. चारण साहित्य-संग्रह, ४. लोक साहित्य-संग्रह, ५. राजस्थानी कहावत माला, ६. महाकवि सूर्यमल आसन, ७. स्व० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आसन, ८. पृथ्वीराज रासो सम्पादन कार्य, ९. अध्ययन गृह तथा संग्रहालय १०, इतिहास एवं पुरातत्व कार्य. ११. शोध-पत्रिका, एवं १२. राजस्थान-साहित्य आदि।

साहित्य-संस्थान की उपर्युक्त विभिन्न प्रवृतियों में 'इतिहास एवं पुरातत्व कार्य' भी एक मुख्य और महत्व पूर्ण प्रवृत्ति है। इस प्रवत्ति विशेष के द्वारा राजस्थान और भारत की पुरातन इतिहास-सामग्री की शोध-खोज करना तथा इतिहास का कार्य करने वालों को यथा संभव साधन सुविधायें देकर आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करने का नम्र किन्तु आवश्यक प्रयत्न किया जाता है। स्व० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने राजस्थान विश्व विद्यापीठ, साहित्य-संस्थान के काम को तथा उसके उज्ज्वल भविष्य

को देख कर अपने समस्त प्रकाशित और अप्रकाशित निवन्ध सम्पादन और प्रकाशन के लिये प्रदान कर दिये थे। स्व० डॉ० ओझाजी भारतीय इतिहासकारों और पुरातत्व वेत्ताओं में प्रमुख और अग्रणी विद्वान थे। राजस्थान की अन्धकाराच्छन्न ऐतिहासिक सामग्री को सर्व प्रथम व्यापक रूप से प्रकाश में लाने का महान श्रेय स्व० डॉ० ओझाजी को ही प्राप्त है। इसी प्रकार भारतीय पुरातत्व के क्षेत्र में भी स्व० डॉ० ओझाजी ने जो महत्वपूर्ण देन दी है; वह कभी भुलाई नहीं जा सकती।

स्व० डॉ० ओझाजी ने वर्षों के परिश्रम से तय्यार किये गये अपने ये निवन्ध जिस आशा और विश्वास के साथ 'साहित्य-संस्थान' को दे दिये थे उसके अनुकूल संस्थान कितना साबित होगा, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, लेकिन इतना अवश्य हम यहाँ कह सकते हैं कि "साहित्य-संस्थान" की जो योजना और कल्पना है, यदि साधन-सुविधाओं के साथ विद्वानों का सहयोग जैसा आज मिल रहा है, आगे भी मिलता रहा तो निश्चय ही हम बहुत कुछ कर गुजरने की स्थिति में होंगे। स्व० डॉ० ओझाजी के इन निबन्धों के सम्पादन कार्य में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० रमाशंकर हेड़ ऑफ दि हिस्ट्री-डिपार्टमेंट, विश्व विद्यालय काशी ने हमारे विभागीय-सम्पादक का मार्ग प्रदर्शन कर जो उपयोगी और महत्वपूर्ण सुझाव दिये, उसके लिये संस्थान की ओर से मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। इसी प्रकार महाराज कुमार डॉ० रघुबीरसिंह सीतामऊ और डॉ० दशरथ शर्मा, दिल्ली ने समय समय पर जो महत्वपूर्ण सहायता दी है, उसके लिये मैं उनका आभारी हूं, यद्यपि केवल आभार प्रदर्शित कर उक्त दोनों विद्वान महोदयों की साहित्य-संस्थान के विकास कार्य में की गई और की जा रही सेवा के मूल्य को नहीं आंका जा सकता है, और सच तो यह है कि श्री महाराज कुमार और श्री दशरथजी साहित्य-संस्थान राजस्थान विश्व विद्यापीठ, के उन प्रमुख विद्वान स्तम्भों में से प्रमुख है, जिनके बिना 'संस्थान' का काम चल ही नहीं सकता है। इसलिये इन दोनों विद्वान महोदयों के प्रति आभार प्रदर्शित करना केवल रस्म अदायगी मात्र ही है।

"ओझा-निबन्ध संग्रह" के सम्पादन ओर प्रकाशन कार्य में 'साहित्य-संस्थान' के 'इतिहास एवं पुरातत्व कार्य' के संयोजक श्री नाथूलालजी व्यास को जितना परिश्रम करना पड़ा है, उतना अन्य किसी को भी नहीं, श्री व्यासजी ने वर्षों तक

स्व० डॉ० गौरीशंकरजी ओझा के पास रहकर उनके काम में हाथ बटाया है, इसलिये श्री ओझाजी की दृष्टि मति को जितनी ये सही रूप में समझ सकते हैं, उतनी शायद ही अन्य कोई समझता हो। 'साहित्य-संस्थान' के इतिहास और पुरातत्व के काम को जमाने का प्रयत्न भी श्री व्यासजी का ही है। अतः उनको उनके परिश्रम के लिये धन्यवाद देकर या आभार प्रदर्शित कर उनकी सेवा के मूल्य को कम करने की मेरी इच्छा नहीं है। श्री व्यासजी का तो यह अपना कार्य ही है।

प्रस्तुत निबन्धों का प्रकाशन काफी समय पूर्व कर दिया जाना चाहिये था, परन्तु संस्थान की अपनी कठिनाइयों के कारण आज से पूर्व नहीं हो सका, और यदि अभी भी राजस्थान विश्व विद्यापीठ के पीठ मन्त्री श्री भगवतीलालजी भट्ट ने राजस्थान सरकार से आवेदन-निवेदन और दौड़ धूप कर प्रकाशन सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया होता तो न जाने कब प्रस्तुत 'निबन्ध-संग्रह' प्रकाशित हो पाता, श्री भट्टजी की प्रेरणा और परिश्रम से ही इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है।

अन्त में मैं राजस्थान-सरकार, उसके मंत्री गण तथा शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने "ओझा निबन्ध-संग्रह" के प्रकाशन-कार्य के लिये आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन में पूर्ण सहयोग दिया है। राजस्थान और भारत में ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिए काफी गुंजायश और अनिवार्य आवश्यकता है। यदि प्रान्तीय सरकारों का प्रोत्साहन पूर्ण उदार सहयोग निरन्तर मिलता रहे तो इतिहास की महत्वपूर्ण कमी आसानी से दूर की जा सकती है। ऐतिहासिक अनुसंधान के काम गंभीर और गवेषणा पूर्ण तो हैं ही, परन्तु अधिक व्यय और श्रम साध्य भी हैं, इस कारण बिना सरकारी सहायता के ऐसे काम अधिक परिणामकारी नहीं हो सकते हैं। आशा है, राजस्थान सरकार और उसका शिक्षा-सचिवालय ऐसी ऐतिहासिक सामग्री की शोध-खोज और प्रकाशन के लिये आवश्यक सहयोग और सहायता देता रहने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करेगा।

साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ के सभी शोध-खोज के विद्वानों

और विचारकों का मैं उनके सहयोग के लिये अत्यन्त आभारी हूं। यह तो उन्हीं का काम है, उन्हीं के लिये है। अतः उन्हें ही करना है।

साहित्य-संस्थान
राजस्थान विश्व विद्यापीठ
उदयपुर [राज०]

गिरिधारीलाल शर्मा
अध्यक्ष
साहित्य-संस्थान

———

प्राक्कथन

स्वर्गीय विद्या-वाचस्पति श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के समस्त निबन्धों का यह विस्तृत "ओझा–निबन्ध संग्रह" राजस्थान विश्व विद्यापीठ, साहित्य-संस्थान उदयपुर का एक महत्वपूर्ण एवं अनूठा प्रकाशन–साहस है। स्वर्गीय ओझाजी ने अपने स्वर्गवास के पूर्व अपने समस्त निबन्ध 'साहित्य–संस्थान-विश्व विद्यापीठ, उदयपुर को भेंट दे दिये थे, और तभी से इस संग्रह के प्रकाशन की आतुर कामना बनी हुई थी, ओझाजी ने अपने समस्त निबन्ध राजस्थान, विश्व विद्यापीठ उदयपुर को इसलिये दिये थे कि वे इस संस्था को अपने ज्ञान की विरासता के लिये जहाँ पात्र मानते थे, वहाँ उनको इस बात की खुशी थी कि उदयपुर में एक जन–प्रयत्न साध्य विश्व विद्यापीठ की स्थापना तथा विकास किया जा रहा है।

निस्संदेह "ओझा निबन्ध संग्रह" के प्रकाशन में आवश्यकता से अधिक देर हुई है, इसके कई कारण हैं, सबसे बड़ा कारण इसके सम्पादन–क्रम का है, यह उचित ही था कि ओझाजी के समस्त लेखों के सम्पादन में भारत-प्रसिद्ध इतिहास-वेताओं का सहयोग प्राप्त किया जाय। यही अभिलाषा और प्रयत्न इस ग्रन्थ-रत्न के प्रकाशन की देरी का भी कारण बने, यह आभार मानना होगा कि ओझाजी के सुपुत्र श्री रामेश्वरलालजी ने हमारी इस समीचीन कठिनाई का अनुभव किया और आज दिन तक धैर्य रखा।

ओझाजी राजपूताना के इतिहास के एक भीमकाय अग्रणी थे, धुरन्धर तो वे थे ही, परन्तु राजपूताने की ऐतिहासिक संघर्ष-जर्जर मानवता के शताब्दियों तक के घटनाचक्र के एक व्यासकार भी थे। राजपूताने के अनेक ख्यात राज्य-वंशों-उसकी बिखरी एवं अनेक रण-भूमियों के ओझाजी विशिष्ट ज्ञाता थे। अद्वितीय इतिहासज्ञ

ओझाजी थे इसमें किसे सन्देह हो सकता है ? इन सबके उपरान्त ओझाजी पन-घटों, मन्दिरों, धर्मशालाओं, खण्डहरों, गढ़ों, किलों और विजन स्थानों के मौन पाषाण शिलालेखों के महान् विद्यार्थी थे, भारत की प्राचीन लिपियाँ अपने सहज ही अन-जान अर्थ उनके सामने मानों स्वयं खोल कर रख देती थी, ताम्रपत्र, पट्टे-परवाने और रेकार्ड ओझाजी के लिये सहज पाठ्य थे। सच तो यह है कि इतिहास की प्रत्येक प्रकार की सामग्री ओझाजी की शिष्य थी। आचार्य गौरीशंकर ओझा अपने इसी विशाल ज्ञान के कारण इतिहास का एक मानव-पर्यायवाची हो गये हैं।

यह सही है कि ओझाजी ने एक अग्रदूत की भाँति इतिहास का प्रणयन किया है। वंशावलियों, घटना क्रमों और अन्य ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर राजपूताने के राज्य-वंशों को सामने रख कर उस मतिमान ने राजपूताने के इतिहास का शिवाला खड़ा किया है। परन्तु यह ओझा निबन्ध संग्रह प्रमाणित कर देगा कि ओझाजी ने भारतीय इतिहास की प्राचीन पग-डण्डियों, खंडहरों, ताम्र पत्रों, और उनके विवादास्पद इतिहास-प्रसंगों एवं व्यक्तियों को अछूता नहीं छोड़ा है, परोक्षतः ओझा ने भारतीय प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास की कई मार्ग दिशाएं खोली हैं, तथा कई प्रश्नों का उत्तर दिया है, एवं कई कसोटियाँ ओर प्रसंग कायम किये हैं। ओझा निबन्ध संग्रह के विषयों पर दृष्टिपात करते ही ऐसा प्रतीत होता है कि सूक्ष्म किन्तु विशाल इतिहास-नयन प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय अतीत को एकाग्र होकर देख रहा है। रोमाञ्च और प्रेरणा इन लेखों से मिलती है. और भारतवर्ष की अतीत शताब्दियाँ अपने अनूठे और अचूक व्यक्तियों को हमें आज वर्तमान में. जीवन के चित्रों की भाँति भेंट देती है।

ओझा हमारे इतिहास का महान् ब्रह्मचारी है. और यही "ओझा-निबन्ध-संग्रह" का महत्व है।

राजस्थान विश्व विद्यापीठ
पीठस्थविर अधिकरण
उदयपुर [राज०]

जनार्दनराय नागर
पीठस्थविर

प्रस्तावना

महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा केवल "प्राचीन लिपिमाला" के यशस्वी लेखक, भारतीय पुरातत्त्व के प्रकाण्ड पण्डित और भारत के प्राचीन कालीन इतिहास के अधिकारी विवेचक ही नहीं थे किन्तु मुसलमान कालीन भारतीय इतिहास विषयक उनका अध्ययन भी बहुत ही गहन और विस्तृत था। वे स्वयं फारसी भाषा के विद्वान नहीं थे एवं फारसी भाषा में लिखित सारे प्राप्य ऐतिहासिक आधार ग्रन्थों का वे पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सके, किन्तु प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री के महत्त्व को वे अच्छी तरह समझते थे और यथा सम्भव उसका ठीक-ठीक उपयोग करने को प्रयत्नशील रहते थे तथा उनकी सहायता से राजस्थानी, व्रजभाषा आदि में लिखी गई राजस्थान के इतिहास सम्बन्धी ख्यातों, वंशावलियों, ऐतिहासिक काव्यों एवं अन्य आधार सामग्री की जाँच-पड़ताल कर उनमें प्राप्य निर्विवाद ऐतिहासिक तत्त्वों की सहायता से वहाँ के अज्ञात इतिहास पर नया प्रकाश डालने का वे निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। इसी प्रकार वे टॉड लिखित ऐतिहासिक विवरण की अनेकानेक कपोल कल्पित कथाओं को निराधार प्रमाणित कर राजपूताने के इतिहास को प्रामाणिक तथा ऐतिहासिक आधारों से पूर्ण समर्थित बना सके। मुसलमानों एवं राजपूतों के दोनों विरोधी पक्षों के ऐतिहासिक विवरणों की गहरी खोजपूर्ण जाँच कर उन दोनों से प्राप्त प्रमाणिक ऐतिहासिक तथ्यों का वैज्ञानिक एवं विद्वतापूर्ण ढंग से पूरा-पूरा समन्वय करके निष्पक्ष सप्रमाण इतिहास लिखने का यह प्रयत्न ही ओझाजी के "राजपूताने के इतिहास" के मुसलमानी कालीन ऐतिहासिक विवरणों की महत्त्वपूर्ण प्रमुख विशेषता है। अपने उद्देश्य में ओझाजी को पर्याप्त सफलता मिली और यों तत्कालीन इतिहास विषयक मानवीय ज्ञान की सीमाओं के परिवर्द्धन के साथ ही राजस्थान के भावी इतिहासकारों का भी उन्होंने अत्यावश्यक मार्ग दर्शन किया।

मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास के जो भी विवरण ओझाजी ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों में लिखे हैं उनके अतिरिक्त उन्होंने तत्सम्बन्धी कुछ ऐतिहासिक निबन्ध भी समय-समय पर लिखे थे

जिनमें से कई को एकत्र कर इस तीसरे भाग में प्रकाशित किया जारहा है। ये स्फुट लेख भी ओझाजी की सुज्ञात खोजपूर्ण विद्वत्ता तथा ऐतिहासिक तथ्यों की ठीक-ठीक जाँच करने वाली गहरी पैनी दृष्टि से भरपूर हैं। इन लेखों में उनहोंने तत्कालीन कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं, समस्याओं या व्यक्तियों पर नया प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इन लेखों को प्रकाशित हुए बीसियों वर्ष बीत चुके हैं और इस काल में ऐतिहासिक खोज तथा अध्ययन कार्य पर्याप्त उन्नति कर चुका है अतः उनमें से कुछ के सम्बन्ध में कुछ नई बातें यहाँ प्रस्तावना में प्रस्तुत करना आवश्यक और उचित प्रतीत होता है।

"वृत विलास" के रचयिता कवि जदुनाथ कृत एक और काव्य इधर मिला है। ग्वालियर निवासी इतिहास-प्रेमी सरदार आनन्दराव भाउ साहिब फालके ने नरवर के सुप्रसिद्ध कछवाहा घराने के ही वंशज दीवान रामसिंह कछवाहा (ठिकाना हरसी के टांकेदार) के निजी संग्रह में से "खाण्डेराय रासौ" नामक एक बृहत् काव्य ग्रन्थ ढूँढ निकाला है जिसमें कवि जदुनाथ कृत अनेकानेक स्फुट छन्दों के अतिरिक्त 'जंग-जस" नामक ऐतिहासिक काव्य पूरा दिया गया है। इस काव्य की रचना के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है :—

"देस मदावर तैं तहां आयौ कवि जदुनाथ।
जा पर सब कृपा करत महि के सब नरनाथ॥
बरदाई कवि चन्द कुल प्रगट्यौ सुमति निधान।
ताते कवि जदुनाथ कौ करत नृपति सनमान॥
श्री अनिरुद्ध प्रसिद्ध भौ भूप मदावर थार।
त्रिरति सुर है आदि तैं मानत नृप चहुँवान॥
जादौ भूप गुपाल नैं कर्‍यौ सरस सनमान।
गाँव दयौ कीनी कृपा सुनि निज सुजस निदान॥
नृप तै सरस कृपा करी राव प्रबल नवलेस।
मौती हय बकसीस दै राषत हेत हमेस॥
कही सुकवि जदुनाथ सौं करिकै कृपा अपार।
षंडुन रैया रावकौ करौ ग्रन्थ विस्तार॥
जितनी जीती जंग ते बरनी सबै विचारि।
जा सम्वत् मैं ज्यौं परी ज्यौं सत्रुनि सौं रारि॥
हुकुम पाई नमलेस कौ करि हरि चरन प्रनाम।
जंगनि कौ बरनतु कर्‍यौ ग्रन्थ जंग जस नाम"॥

(खाण्डेराय रासौ, २, पृ. ४२९-४३०)

यह खाण्डेराय सनाढ्य वंशीय ब्राह्मण नरवर राज्य का मन्त्री और प्रमुख सेनानी था। उसके तृतीय पुत्र नवलसिंह के ही आदेश से इस "जंग जस" काव्य की रचना की गई। इस काव्य में सन् १७२३ ई० से लेकर लगभग सन् १७४३ ई० तक का प्रादेशिक इतिहास सविस्तार दिया है। इसमें स्थान-स्थान पर करौली नरेश गोपालसिंह के कार्यों का भी विवरण मिलता है। इस काव्य के अन्त में लिखा है :—

"नवल सिंघ श्री राव नै करि कै कृपा अपार।
कही सुकवि जदुनाथ सौं करौ ग्रन्थ विस्तार ॥
हुकुम पाइ नवलेस कौ रचे छन्द अभिराम।
कीन्यो खंडन राउ कौ ग्रन्थ जंग जसु नाम ॥
बान गगन वसु सासिक यौ संवतु यहि विचारि।
भादौ वदि तिथि पंचमी भौम वार निरधारि ॥
कर्यौ समापति ग्रन्थु तव कवि जदुनाथु बनाइ।
रह्यौ अवनु जुग जुग अमरु नवल सिन्धु श्री राइ ॥

यों यह काव्य ग्रन्थ मंगलवार, भाद्रपद कृष्णा ५, १८०५ वि० (अगस्त २, १७४८ ई०) के दिन सम्पूर्ण हुआ। प्राप्य प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है :—

"पोथी लिपी श्री रैया राइ पांडे राइ के जंग जसौ नाम की श्री ठाकुर साहिब श्री नवलराम-जी कौ मैया पेमराम काइथ श्रीवास्तव नैं मिती वैसाप वदि ८ मंगलवार सं. १८०७ शुभं शुभमु ॥ शुभस्थान विजैपुर ॥ १ ॥" (२, पृ. ६१५)।

यों इस "खाण्डेराय रासौ" से "वृत्त विलास" में प्राप्य जानकारी का समर्थन होता है और उसका महत्त्व अधिक बढ़ जाता है।

"कछवाहों के इतिहास की उलझन" आज भी पूरी तरह से सुलझी नहीं है। जयपुर राज्य के संग्रह से प्राप्त और मेरे पुस्तकालय में संग्रहीत एक और वंशावली के अनुसार राजा भारमल की रानी "वना दे राठोड़ मेहजल की" से दो पुत्र हुए भगवन्तदास और भगवानदास। भगवन्तदास तो आम्बेर की गद्दी पर बैठा, एवं भगवानदास लुवाण का राजा हुआ और उसके वंशज बांकावट कहलाए। भगवन्तदास के "राणी भगेती पँवार पचायण की" के पांच पुत्र मानसिंह, माधोसिंह, कान्ह, सूरसिंह और प्रयागसिंह हुए जिनमें से मानसिंह आम्बेर की गद्दी पर बैठा और माधोसिंह ने मानगढ़ पर शासन किया। आम्बेर के कछवाहा राजघराने की अन्य वंशावलियों से यह वंशावली बहुत भिन्न नहीं

है। रामगढ़ किले का प्रस्तर लेख भी अकाट्य प्रमाण नहीं माना जा सकता है; ऐसे शिलालेखों में में दत्तक पुत्र का उल्लेख भी केवल पुत्र के रूप में ही किया जाता था। इस प्रश्न पर कोई भी संतोष-जनक सुनिश्चित निर्णय कर सकने के लिए मूल ऐतिहासिक आधारों एवं उनकी समकालीन प्रामाणित सामग्री की अधिक खोज तथा उनका पूरा-पूरा अध्ययन आवश्यक है।

महाराणा प्रताप के इतिहास सम्बन्धी खोज में इधर कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। महाराणा प्रताप के ज्ञात इतिहास को सरसरी तौर पर भी देखने से यह स्पष्ट होजाता है कि समय के साथ राणा-प्रताप की जीवनी को लेकर अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथानकों, अत्युक्तिमय आख्यायिकों तथा भावपूर्ण गीतों की सृष्टि होने लगी थी जिससे कुछ ही युगों में राणा प्रताप के उस ऐतिहासिक शासन-काल के विवरण का सारा स्वरुप ही बहुत-कुछ बदल गया। ओझाजी के लेखों में टॉड द्वारा वर्णित ऐसे दो महत्त्वपूर्ण पहलुओं की ओर सुस्पष्ट निर्देश कर उनकी वास्तविकता की विवेचना की गई है, जिनसे महाराणा प्रताप का पूर्णतया संशोधित सप्रमाण इतिहास पुनः लिखे जाने की आवश्यकता सुस्पष्ट ही नहीं अनिवार्य जान पड़ती है।

इसी प्रकार अपनी वीरता साहस और व्यक्तिगत महत्ता के बल मुगल दरबार में महत्त्व प्राप्त कर बड़े-बड़े मनसब पाने वाले अनेकानेक राजपूतों की जीवनियों सम्बन्धी अत्यावश्यक सामग्री की खोज का प्रारम्भ अब भी नहीं हो पाया है। राजा गिरधर कछवाहा, जिसे जहाँगीर ने दो हज़ार ज़ात-डेढ़ हज़ार सवार का मनसब दिया था और जिसने खण्डेले ठिकाने की स्थापना की थी, तथा राजा अनूपसिंह बड़गूजर, जिसे जहाँगीर ने अनीराय सिंह दलन की उपाधि दी थी और जिसका मनसब बढ़ते-बढ़ते तीन हज़ारी ज़ात-डेढ़ हज़ार सवार का होगया था, जैसे वीरों की जीवनियों का विवरण अभी तक प्रधानतया तत्कालीन फ़ारसी आधार-ग्रन्थों में प्राप्य जानकारी से ही लिखा जाता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि इन वीरों की कार्यवाहियों को लेकर तब राजस्थानी या अन्य भाषाओं में भी ग्रन्थ लिखे गये होंगे जो या तो इन पिछली सदियों में नष्ट हो गए या अब तक कहीं अज्ञानांधकार में ही छिपे पड़े हैं जिनको ढूँढ निकालने के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न प्रारम्भ हो जाने चाहिए। ऐसी ही खोज के फलस्वरुप इधर कुछ समय पहिले राजा रामदास कछवाहा की जीवनी सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण समकालीन सामग्री प्राप्य हुई है। यह राजा रामदास कछवाहा आम्बेर के राजा उदयकर्ण के पुत्र पातल का वंशज था, और प्रारम्भ में राजा गिरधर कछवाहा के वीर पिता राजा रायसल दरबारी का सेवक भी रहा था। आम्बेर राज्य के अन्तर्गत अचलपुरा गाँव के निवासी कान्हा चरण के लिखे हुए "रामदास कछवाहा की वार्ता" और "पातल पोता की हकीकत" शीर्षक दो ग्रन्थ प्राप्य हुए हैं। पुनः राजा रामदास के मीर मुन्शी सफदर अली द्वारा सन् १५८१ ई० में लिखित "राजा टोडरमल और रामदास कछवाहा की कार्यवाहियों की

हकीकत" का उर्दू अनुवाद भी मिला है। इन समसामयिक आधार-ग्रन्थों से रामदास कछवाहा की ठीक-ठीक वंशावली और जीवनी के ब्यौरेवार विस्तृत विवरण के साथ ही उस समय की अनेकानेक ऐतिहासिक घटनाओं पर सर्वथा नया प्रकाश पड़ता है। × इन ग्रन्थों की प्राप्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय भी ऐसे महत्त्वपूर्ण सेना नायकों एवं व्यक्तियों की जीवनियों के विवरण लिखने की प्रथा थी एवं अन्य राजपूत वीरों के सम्बन्ध में भी ऐसे अनेकानेक ग्रन्थों की रचना होना कोई अनहोनी बात नहीं प्रतीत होती है। ओझाजी के रचनाकाल के बाद अब तक इस प्रकार की खोजों के कार्य में कोई विशेष प्रयत्न या प्रगति नहीं हुई है।

काशीनागरी प्रचारिणी सभा ने "मुहणोत नैणसी की ख्यात" को दो भागों में प्रकाशित किया। मारवाड़ी में लिखे इस ग्रन्थ का यह हिन्दी अनुवाद रामनारायण दूगड़ ने किया था। मूल-ग्रन्थ की त्रुटियाँ बतलाने या अधिक परिचय देने को उसमें यथास्थान कहीं २ टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। यों इस महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ के प्रकाशन से राजस्थान, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, बघेलखण्ड आदि प्रदेशों के प्रायः सारे प्रमुख राजपूत राजवंशों का बहुत ही उपयोगी और कई वंशों में सर्वथा प्रामाणिक वृत्तांत प्राप्य हो गया है। परन्तु इधर इन्हीं घरानों की कई एक अन्य वंशावलियों, कुछ ख्यातों एवं विविध आधार-ग्रन्थों तथा समकालीन कागज़-पत्रों से उनके सम्बन्ध में बहुत-सी नई जानकारी प्राप्त हुई है। इसलिये उन सबके आधार पर इस ख्यात का परिवर्द्धित, संशोधित एवं विस्तृत पाद टिप्पणियों सहित एक सर्वथा नए संस्करण की आवश्यकता अत्यधिक स्पष्ट और उत्कट हो गई है।

शिवाजी का जन्म किस दिन और किस वर्ष हुआ था इस प्रश्न को लेकर बहुत समय से महाराष्ट्र के इतिहास-कारों में वाद-विवाद चलता आया है। मराठों के प्रमुख इतिहासकार वि० का० राजवाड़े ने अपने ग्रन्थ "मराठ्यांचा इतिहासाचीं साधने" के चतुर्थ खण्ड की प्रस्तावना में विभिन्न बखरों, आदि आधार-ग्रन्थों में दी गई अनेकानेक तिथियों की विवेचना करने के बाद सोमवार, वैशाख शुक्ला ५, १५४९ शक सम्वत् (अप्रेल ६, १६२७ ई०) को शिवाजी की विश्वसनीय जन्मतिथि बताई। तदनन्तर अप्रेल, १९०० ई० में महाराष्ट्र-केसरी श्री बालगंगाधर तिलक ने भी अपने पत्र "केसरी" में इस विषय पर एक विस्तृत लेख लिख कर उसमें गुरुवार, वैशाख शु० १, १५४९ शक सम्वत् (अप्रेल ६, १६२७ ई०) को शिवाजी की सही जन्म तिथि माना। इधर जेधे शकावली के

× प्रोसीडिंग्ज आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, १६ वाँ अधिवेशन, वाल्टेअर (आंध्र), १९५३, में सैयद हसन अस्करी का "राजा रामदास कछवाहा" शीर्षक लेख।

प्रकाशन के बाद कई इतिहासकार उसमें दिए गये शुक्रवार, फाल्गुण विदि (पूर्णिमांत मास चैत्र विदि) ३, १५५१ शक सम्वत् (फरवरी १६, १६३० ई०) को शिवाजी का ठीक जन्म-दिन मानने लगे हैं। इन सारी विभिन्न तिथियों के पक्ष में समय-समय पर अनेकानेक लेख प्रकाशित होते रहे हैं। सन् १६२५ ई० में पूना से प्रकाशित "शिवचरित्र–प्रदीप" नामक संग्रह ग्रन्थ के भी कई लेखों में इसी समस्या का सविस्तार विवेचन है। अपने "शिवाजी का जन्म-दिन" शीर्षक लेख में ओझाजी ने भी इस प्रश्न पर अपनी सुस्पष्ट सम्मति प्रगट की है और जेधे "शकावली" में दी गई तिथि को ठीक मानते हुए उसके समर्थन में "शिव भारत" ग्रन्थ और तंजोर के शिलालेख के साथ ही जोधपुर निवासी चण्डू ज्योतिषी के वंशजों के संग्रह में प्राप्य शिवाजी की जन्म-पत्री तथा उसमें दी गई जन्म तिथि का भी उल्लेख किया है। जोधपुर से प्राप्त इस जन्म-पत्री के विषय में विरोधी मतवालों ने कई एक आशंकाएँ की हैं। "शिवछत्र पतीची ६१ कलमी बखर" का सम्पादन करते हुए बड़ोदा के वि० स० वाकसकर ने इस सम्बन्ध में लिखा था—"रा० ब० ओझा के नेत्रों में कोई रोग हो गया था जिससे उनमें शल्य-क्रिया करनी पड़ी और उसके बाद उनकी देखने की शक्ति बहुत ही क्षीण हो गई है। तथापि वे केवल अक्षरों के साम्य से ही उस कुण्डली को शिवाजी के समकालीन शिवराम ज्योतिषी की ही मानते हैं। अक्षर के साम्य का यह पुरावा बहुत ही निर्बल और सर्वथा अमान्य है। अन्य तथा इस कारण भी यह कुण्डली विश्वसनीय नहीं है। साथ ही शिव भारत में ग्रहों की स्थिति का जो वर्णन है वह इस कुण्डली में दी गई स्थिति से भिन्न है यह बात भी भूलनी नहीं चाहिए। (पृ. २७–२८)।

किन्तु इस सारे वादविवाद के बाद भी अब तक शिवाजी के ठीक जन्म-दिन के सम्बन्ध में प्रमुख इतिहासकारों का कोई मतैक्य नहीं हो पाया है। सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं :—"उनकी (शिवाजी की) निश्चित जन्मतिथि के बारे में कोई भी समकालीन उल्लेख प्राप्य नहीं है। उनके दरबारी, कृष्णाजी अनन्त सभासद, भी सन् १६६७ ई० में ('शिव-छत्रपति चें चरित्र') लिखते समय इस सम्बन्ध में मूक ही रहे। दोनों विभिन्न पक्षों के लेखकों ने उनके जन्म की जो अलग २ तिथियाँ दी हैं उनमें मैं सोमवार, अप्रेल १०, १६२७ ई को अधिक मानता हूँ।"(शिवाजी, ५वाँ सं; पृ. १८)। मराठों के प्रमुख इतिहासकार डॉ० गोविन्द सखाराम सर देसाई ने अपने नए ग्रन्थ "न्यू हिस्ट्री आफ़ दी मराठाज़" में लिखा है कि "दुर्भाग्यवश ऐसे पर्याप्त प्रमाण प्राप्य नहीं हैं जिनके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि दोनों तिथियों में से कौन सी बिल्कुल सही है।" अपने उक्त इतिहास-ग्रंथ में सरदेसाई अप्रेल ६, १६२७ ई० को ही जन्म-तिथि स्वीकार कर चले हैं। (खण्ड १, पृ. ८७)।

"महाराजा सवाई जयसिंह" शीर्षक लेख पिलानी से प्रकाशित होने वाली "बिड़ला कॉलेज पत्रिका" के विशेषांक, बसन्त सं. १६८६ वि. (ई. स. १६३३) में प्रकाशित हुआ था। तब तक

सवाई जयसिंह की राजनैतिक हलचलों पर पूरा-पूरा प्रकाश डाल सकने वाली प्रामाणिक समकालीन ऐतिहासिक सामग्री बहुत ही कम प्राप्य थी और १८वीं शताब्दी में पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य के इतिहास के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। इधर इन पिछले पच्चीस वर्षों में उस काल की बहुत अधिक सामग्री प्रकाश में आई है और १८वीं शताब्दी के इतिहास सम्बन्धी कुछ प्रामाणिक ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं, जिनसे इस लेख में दी गई जीवनी में अनेकानेक नई ज्ञात हुई महत्वपूर्ण बातों का समावेश तथा उसमें दिए गए विवरण में कुछ आवश्यक फेर फार सर्वथा अनिवार्य हो जाते हैं।

यह नई ऐतिहासिक सामग्री प्रधानतया दो विभिन्न स्थानों से प्राप्य हुई है। प्रथम तो पेशवा दफ़्तर में प्राप्य महत्वपूर्ण समकालीन ऐतिहासिक कागज-पत्रों के प्रकाशन से मराठों के प्रति सवाई जयसिंह की राजनीति एवं विशेषतया उसकी पिछली दो बार की मालवा की सूबेदारी के समय वहाँ की घटनाओं पर सर्वथा नया प्रकाश पड़ता है। उधर साथ ही जयपुर के राजकीय मुहाफिजखाने से औरंगजेब के उत्तराधिकारीयों के समय के हजारों अखबारात तथा सैकड़ों महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्र, समकालीन वाक़्या, हस्ब-उल्-हुक्म, फ़रमान आदि की प्रामाणिक नक्लें प्राप्त हुई हैं जिनसे उस समय की घटनाओं की ठीक २ तारीखें, इनका वास्तविक क्रम ही ज्ञात नहीं होता है किन्तु यों उस काल की कई अतीव महत्वपूर्ण बातों एवं घटनाओं को भी उनसे पहली बार पता चला है।

अक्तूबर, १७१२ ई० में जब सवाई जयसिंह को पहली बार मालवा का सूबेदार बनाया गया तब वहाँ उसने किस तत्परता के साथ मराठों के अनेकानेक आक्रमण कारी दलों का सफलता के साथ सामना किया और अन्त में पिलसूद के महत्वपूर्ण निर्णायक युद्ध में मई, १७१५ ई० के दिन उनके एक बहुत बड़े सेना दल को बुरी तरह हराकर उन्हें मालवा से निकाल बाहर किया इस सबकी जानकारी जयपुर-संग्रह से प्राप्त कागज-पत्रों से ही पहिली बार हमें मिली है। मालवा की अन्तिम बार की सूबेदारी के समय मराठों के विरुद्ध हुई उसकी सैनिक बिफलताओं ने सवाई जयसिंह की इन पहिले की सफलताओं को फीका कर एक भूली हुई बात बना दिया, किन्तु इतिहास में तो उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

मालवा में जयसिंह की पिछली दो बार की सूबेदारियों का इतिवृत्त और राजस्थान की ही नहीं साम्राज्य की भी राजनीति में सवाई जयसिंह का प्रभाव एवं महत्व इधर प्रकाशित हुए अनेकानेक प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथों में सविस्तार वर्णित है। सर यदुनाथ सरकार कृत "फ़ाल आफ़ दी मुगल एम्पायर", डॉ० वि० गो० दीघे कृत "पेशवा बाजीराव एण्ड मराठा एक्सपेंशन" एवं मेरा "मालवा में युगान्तर" ग्रंथ इस सम्बन्ध में विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। मेरे ग्रंथ "पूर्व-आधुनिक राजस्थान"

में भी सवाई जयसिंह का विवरण यथास्थान दिया गया है। किन्तु इनमें से कोई ग्रंथ सवाई जयसिंह की जीवनी के सारे ही विभिन्न पहलुओं और कार्यों पर पूरा २ प्रकाश नहीं डालते हैं। अतः यह अत्यावश्यक है कि सवाई जयसिंह की जीवनी, उसके कार्यों एवं उसके महत्व को लेकर एक सर्वथा स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना की जावे, क्योंकि तब ही १८ वीं शताब्दी के राजस्थान के ही नहीं भारत के भी इस विचक्षण बहुमुखी प्रतिभापूर्ण व्यक्तित्व का पूरा और ठीक विवरण लिखा जा सकता है।

बाँकीदास-ग्रंथावली का तीसरा भाग भी सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हो गया है, जिसमें ओझाजी द्वारा निर्दिष्ट सात अप्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त बाँकीदासजी कृत "कृपण-पच्चीसी", 'हमरोट-छत्तीसी" तथा "स्फुट-संग्रह" भी सम्मिलित कर दिए गए हैं। इस "स्फुट-संग्रह" में उनके गीत आदि फुटकर छन्दों के साथ ही "रस -अलंकार" और "वृत्त-रत्नाकर" शीर्षक ग्रंथों के खण्डांश तथा "काव्य के गुण-दोष" नामक खण्डित रचना भी दे दी गई है। इस तृतीय भाग की विस्तृत भूमिका लिखते हुए पुरोहित हरनारायणजी ने बाँकीदासजी के कम से कम ९-१० और अप्रकाशित ग्रंथों का उल्लेख किया है। बाँकीदासजी द्वारा संग्रहीत "ऐतिहासिक वार्ता-संग्रह" का उल्लेख ओझाजी ने भी अपने लेख में किया है। इस संग्रह की उपयोगिता सुस्पष्ट है एवं उसका सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित होने से गुजरात, मालवा, राजस्थान, आदि प्रदेशों के इतिहास पर नया प्रकाश ही नहीं पड़ेगा परन्तु ये वार्ताएँ तद्देशीय इतिहास की अत्यावश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर उसको ठीक तरह से समझने के लिए अत्यावश्यक वातावरण पैदा करने में सहायक होगी। अतः बाँकीदास-ग्रंथावली के अगले भागों के प्रकाशन की प्रतीक्षा रहेगी।

इस्लाम धर्म के मूल तत्वों और मुसलमानी राज्य के राजनैतिक सिद्धान्तों का विवरण हिन्दी भाषा के साहित्य में दुर्लभ ही रहा है। अतः जजिया पर ओझाजी का लेख बहुत ही उपादेय है। सर यदुनाथ सरकार ने अपने बृहत् ग्रंथ "हिस्ट्री आफ औरंगजेब" के तीसरे खण्ड में इस विषय पर सविस्तार लिखा है (तृतीय संस्करण, अध्याय ३४) उन्हीं के अंग्रेजी ग्रन्थ "ए शार्ट हिस्ट्री आफ औरंगज़ेब" का संशोधित संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद "औरंगज़ेब' नाम से कुछ ही वर्ष पहिले बम्बई से प्रकाशित हुआ है जिसके अध्याय ८ में मुसलमानी राज्य के स्वरूप एवं उसके राजनैतिक सिद्धान्तों आदि का सुस्पष्ट विवरण दिया है। ओझाजी के इस लेख के साथ ही 'औरंगज़ेब" (हिन्दी) के उक्त अध्याय को पढ़ने से केवल हिन्दी जानने वालों को भी इस विषय की बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

औरंगज़ेब द्वारा लगाए गए इस जजिया कर को उसके प्रपौत्र, सम्राट् फर्रुखसियर तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में बन्द करवाने के लिए बार बार प्रयत्न करने पड़े। सिंहासनारूढ़

होते ही सन् १७१३ ई० में जब फर्रुखसियर ने चौंतीस वर्ष के बाद पहिली बार इसे बंद किया तब तदर्थ आग्रहपूर्ण अनुरोध करने वालों में फर्रुखसियर का प्रमुख तथा सशक्त हिन्दू समर्थक कड़ा-माणिकपुर का फौजदार छबीलेराम नागर भी था। अप्रेल २, १७१७ ई० के दिन जब फर्रुखसियर ने पुनः जज़िया कर लगाने का आदेश दिया तब उसने सवाई जयसिंह के नाम एक पत्र भेजा-जिसमें उसने लिखा था –"इनायतुल्ला ने मेरे सम्मुख मक्का के शरीफ़ का एक पत्र प्रस्तुत किया है जिसमें आग्रहपूर्वक लिखा है कि कुरान के अनुसार जज़िया वसूल करना सर्वथा अनिवार्य है। ऐसे धार्मिक मामलों में कोई क्या कर सकता है।" (जयपुर रेकर्ड्स्, एडीशनल, २ पृ०४)। फर्रुखसियर को सिंहासनच्युत करने के बाद जब मुगल साम्राज्य के तत्कालीन सर्वे-सर्वा सैयद बंधुओं ने उसी के चचेर भाई रफ़ी-उद्-दाराजात को मुगल सिंहासन पर बैठाया, तब इस नए सम्राट् के पहिले ही दरबार में महाराजा अजीतसिंह (जोधपुर) राव भीमसिंह (कोटा) और वज़ीर सैयद अब्दुल्ला के प्रमुख कर्मचारी राजा रतनचंद की प्रार्थना पर उन्होंने जज़िया कर पुनः बन्द करने का आदेश दे दिया (फरवरी, १७१९ ई०)। किन्तु तब दिल्ली एवं साम्राज्य में निरन्तर चल रहे उपद्रवों एवं राजनैतिक उलट-फेरों के कारण कोई पौने दो वर्ष तक इस आदेश को कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सका और जज़िया कर बराबर वसूल होता ही रहा। अन्त में सैयद बंधुओं के पतन के बाद दिल्ली लौट कर सम्राट मुहम्मद शाह जब स्वयं शासन करने लगा तब अकाल और धान्य के बहुत ऊँचे मूल्यों से त्रस्त होकर दिल्ली के सारे ही हिन्दू व्यापारियों ने जज़िया कर के विरोध में अपनी दुकाने बन्द कर दी। अब सवाई जयसिंह ने इस मामले को हाथ में लेकर जज़िया कर सर्वथा बंद कर देने के लिए मुहम्मद शाह से आग्रहपूर्ण प्रार्थना की। अवध के सूबेदार राजा गिरधर बहादुर नागर ने भी सवाई जयसिंह का पूरा-पूरा साथ देते हुए तदर्थ अत्यधिक अनुरोध किया। तब मुहम्मद शाह ने उन सब की प्रार्थनाओं को स्वीकार कर नवम्बर २७, १७२०ई० के लगभग जज़िया कर को सर्वदा के लिये बन्द कर दिया, यद्यपि उस समय सारे साम्राज्य में इस कर से प्राप्त आमदनी कोई चार करोड़ रुपया कही जाती थी। (शिवदास, पत्र ६५ अ-६६ अ; अख़० हिन्दी०, ३, पृ० ८-९; ५, पृ० २१-२२)।

किन्तु सन् १७२३ ई० में निज़ाम-उल्-मुल्क ने मुहम्मद शाह से प्रार्थना की कि जज़िया कर पुनः वसूल किया जावे, पर, मुहम्मद शाह ने तब उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। मार्च-अप्रेल, १७२५ ई० (रजब, ११३७ हि०) में जज़िया लगाने के लिए आदेश नाम-मात्र को दिए गए थे किन्तु उनका पालन कभी नहीं हुआ। (खफ़ी०, २, ९४८; वारिद १४९ ब। इसके बाद मराठों की शक्ति और प्रभाव बढ़ते ही गये, यहाँ तक कि मुहम्मदशाह के पुत्र अहमदशाह के पतन के बाद जून, १७५४ ई० में जब सम्राट जहाँदारशाह के सबसे छोटे लड़के को आलमगीर द्वितीय के नाम से

सिंहासनारूढ़ कराया, तब मुग़ल सम्राट् और उसके वज़ीर इमाद-उल्-मुल्क दोनों की ही सत्ता मराठों की सहायता एवं समर्थन पर निर्भर थी। अतः अपने नाम-राशि प्रपितामह औरंगजेब को आदर्श मानने वाले तथा उसकी धार्मिक कट्टरता के इस अनन्य समर्थक के लिए यह कदापि संभव नहीं रह गया था कि वह भी मन्दिरों के विध्वंस और विधर्मियों से जज़िया वसूल करने की औरंगजेब की धर्मान्धतापूर्ण नीति को पुनः सफलता पूर्वक कार्यरूप में परिणत कर सके। अतः नवम्बर, १७२० के बाद भारत में जज़िया कर कभी वसूल नहीं हुआ।

यह प्रसन्नता और संतोष का विषय है कि राजस्थान विश्व विद्यापीठ द्वारा आयोजित "ओझा-निबन्ध-संग्रह" के प्रकाशन का यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो रहा है। अब उनकी ये स्फुट, विविध तथापि महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इस संग्रह के अनेकानेक भागों में इतिहास प्रेमियों और इतिहासकारों के लिए सुप्राप्य हो जायेंगी। इन लेखों में वर्णित विषय सम्बन्धी आवश्यक नई या अधिक जानकारी देने के लिए या स्पष्टतया देख पड़ने वाली छापे की इनी गिनी भूलों को ठीक करने के लिए प्रकाशकों ने इन लेखों में यत्र-तत्र जो नई सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखवाई हैं, उनके लिए भी वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि "ओझा-निबन्ध-संग्रह" के अगले भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जावेंगे।

इस भाग की प्रस्तावना लिखकर इस ज्ञान-यज्ञ में यत्किंचित् भी सहयोग देने का जो सुअवसर मुझे दिया गया उसके लिए मैं बहुत ही अनुगृहीत हूं। ओझाजी की कृतियों के साथ यों सम्बद्ध होना मेरे लिए पूर्ण गौरव और विशेष प्रसन्नता की बात है।

"रघुबीर निवास"
सीतामऊ (मालवा),
जुलाई ५, १९५४ ई०

रघुबीरसिंह

विषय सूची

तीसरा भाग

पहला प्रकरण—साहित्य	पृष्ठ
१. कवि जदुनाथ का वृत्तविलास	१
२. एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ (समालोचना)	१०
३. डाक्टर हीरालालजी की साहित्य सेवा	२१
दूसरा प्रकरण — इतिहास और पुरातत्व	
१. ग्वालियर राज वंश की उत्पत्ति	२४
२. वीर राठोड़ जयमल	३५
३. वीरवर पत्ता (फत्ता) सीसोदिया	४०
४. कछवाहों के इतिहास में एक उलझन	४१
५. महाराणा प्रताप की पहाड़ों में स्थिति	५१
६. महाराणा प्रताप की संपत्ति	५५
७. राजा गिरधर कछवाहा	६०
८. अनीराय सिंहदलन	६४
९. मुंहणोत नैणसी	६६
१०. महाराणा राजसिंह	७६
११ शिवाजी का जन्म दिन	८१
१२ महाराजा अनूपसिंहजी का विद्यानुराग	८६
१३. महाराज सवाई जयसिंह	९७
१४. कविराजा बांकीदास	११०
१५. जजिया	१२०
तीसरा प्रकरण—विविध	
१. दीवाली	१२६
२. राजपूत का बक्खतर	१२९
३. महर्षि दयानंद सरस्वती और महाराणा सज्जनसिंह	१३०
४. उदयपुर राज्य में वल्लभ सम्प्रदाय के तीर्थ	१४१



स्व० महामहोपाध्याय डॉ० श्री गौरीशङ्कर ओझा

ओझा निबन्ध संग्रह

तीसरा भाग

पहला प्रकरण-साहित्य

१. कवि जदुनाथ का 'वृत्तविलास'

अनुमान १५ वर्ष पहले प्राचीन शोध के निमित्त मेरा जाना भरतपुर राज्य के बयाना नगर में हुआ, जिसका प्राचीन नाम 'श्रीपथापुरी' वहाँ के शिलालेखों में लिखा मिलता है। प्राचीन स्थानों तथा वस्तुओं का निरीक्षण करने के अतिरिक्त मैंने वहाँ के कई एक हस्तलिखित संस्कृत, प्राकृत और हिंदी के पुस्तक-संग्रहों को भी देखा। बोहरा छाजूराम के संग्रह में कई हस्तलिखित हिंदी पुस्तकें भी मिली, जिनमें से 'वृत्तविलास' और आनंदराम कृत गीता के हिंदी अनुवाद का पहले पता लगना मुझे मालूम नहीं हुआ था, जिससे मैंने उन दोनों पुस्तकों की आवश्यक टिप्पणी लिखली। 'वृत्तविलास' हिंदी पिंगल का ग्रंथ है और उसका रचयिता कवि जदुनाथ प्रसिद्ध कवि चंद वरदाई का वंशज था। उसने करौली के राजा गोपालसिंह (गोपालपाल) की कीर्ति को चिरस्थायी करने के निमित्त उक्त ग्रंथ की रचना की और 'गोपालसिंह कीर्ति-प्रकाश' नाम से भी उसका परिचय दिया है। ग्रंथ के प्रारंभ में कवि ने करौली के राजवंश एवं अपने कुल का विस्तृत रूप से परिचय दिया है। ये दोनों विषय हिंदी साहित्य एवं ऐतिहासिक खोज के लिये उपयोगी होने से मैंने उन अंशों की पूरी नक़लें कर ली थीं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं—

करौली के राज्यवंश का परिचय

भये कृष्ण के वंश में, विजयपाल महिपाल।
तिनके सुत परगट भये, तिहुणपाल छितिपाल ॥ ६ ॥
अश्वमेध जिहि जग्य किय, दीने अगनित दान।
हेम कोटि दस सहस गो, गज सहस्र परिमान ॥ ७ ॥
बीस सह (स ह) य सात सै, सासन दीने ग्राम।
धर्मपालु तिनके भये, भूप धरम के धाम ॥ ८ ॥
कुँवरपाल तिनके भये, भूपति व्रप (ख) तविलास।
अजैपाल प्रगटे बहुरि, कयों जगत प्रतिपाल ॥ ६ ॥

हीरपाल तिनके भये, भूप मुकुट जिमि हीर ।
तिनके साहनपालु नृप, साहस समुद गँभीर ॥ १० ॥
अनगपालु नृपु प्रगट हुत्र, तिनके पृथ्वीपाल ।
तिनके सुत प्रगटे बहुर, राजपाल महिपाल ॥ ११ ॥
तिलोकपाल तिनके भये, चापलदेव महीप ।
आसलदेव भये बहुरि, सहसदेव कुलदीप ॥ १२ ॥
घूघलदेव महीप हुत्र, अर्जुनदेव भुवाल ।
भये विक्रमाजीत नृपु, तिनके बखतविलास ॥ १३ ॥
अभैचंदु तिनके भये, भूपति पिरथीराज ।
तिनके रुद्रप्रताप नृपु, भये भूप सिरताज ॥ १४ ॥
चंद्रसेन प्रगटे बहुरि, सकल भूमि भरतार ।
आयो अकब्बर साहि जू, जा नृप के दरबार ॥ १५ ॥
अकबर बहु विनती करी, धर्यो न माथैं हाथ ।
देस दिये कर जोरि तब, नाती दीनो साथ ॥ १६ ॥
भये भारथीचंद जू, तिनके सुव भूपाल ।
प्रगटे श्रीगोपाल सम, तिनके सुत गोपाल ॥ १७ ॥
भये भूप गोपाल के, नृपति द्वारिकादासु ।
जाको परगट पुहमि पर, भयो प्रताप प्रकासु ॥ १८ ॥
भये बहुरि तिनके तनय, श्रीमुकुंद महिपालु ।
सब जग में परगट भये, तिनके नृप जगपालु ॥ १९ ॥
तिनके सुत प्रगटे बहुरि, छत्रपाल छितिपाल ।
छत्रपती छत्रिनि मनि, नृप मनि बखतविलासु ॥ २० ॥

छंद नाराच

भये महीप धर्मरूप भूप धर्म पालजू ।
कृपान दान जा समान आन को भुवालजू ॥
लए अनेक जैतपत्र शुद्ध जुद्ध मंडिकै ।
दवेदरीनि (?) जत्र तत्र सत्रु अत्रु छंडिकै ॥ २१ ॥
नृपाल धर्मपाल के भुवाल रत्नपालु भौ ।
दयाल नंदलाल ज्यौं निहाल दीन जालु भौ ॥

प्रचंड दोरदंड सौ अखंड भूमि जीतिकै ।
दिशा सुपेत भीति सी करी सुनित्य कित्तिकै ॥ २२ ॥

दोहा

नित्य नित्य जाको सुजसु बरनि सके न गनेसु ।
रतनपाल के सुत भयो कुँवरपाल सुनरेसु ॥ २३ ॥

छंद हरिगीत

श्रीकुँवरपाल नृपाल कौ जसु जग्यौ सकल जिहान में ।
कलि करनु सो दुख हरनु असरन सरनु विदित वषा(ख) न में ।
किरवान दान प्रमान जा सम सकति नहिं नृप आन में ।
भुवमान ज्यौं परताप जा सम साहिबी मघवान में ॥२४॥

छंद घनाक्षरी

मही मघवान 'महीपालु श्रीकुँवरपालु
जाको जस पूरन प्रसिद्ध देस देस भौ ।
छीरधि समान हिमवान सानुमान सीत
भान कै प्रमान दीप दीपनि मैं वेस भौ ।
भूधुर धरन जदुवंस आभरन कलि
करन ज्यौं दीन दुष(ख) हरनहमेस भौ ।
संपति धनेसु महिमा करि महेसु
बुद्धि के गनेस भौ प्रताप के दिनेस भौ ॥ २५ ॥

दोहा

भयो उदय दिन दिन निरषि(खि),बाढ़्यौ प्रजनि अनंदु ।
कुँवरपाल कलि करनु भौ, रतपाल नृपनंदु ॥ २६ ॥
दुखी न कोऊ देखियै, निसि दिनु जाके देस ।
जदुकुल में परगट भयों, दुजो भूमि सुरेस ॥ २७ ॥
कुँवरपाल कै सुत भये, भूपति श्रीगोपाल ।
जदुकुल में फिरि अवतरे, मानौ श्रीगोपाल ॥ २८ ॥
अरिवर केसी कंस से, करिवर वर संघारि ।
द्वै भुज एसे देखियै, मनौ लसत भुज चारि ॥ २९ ॥

चार्यों चक्कनि मैं प्रगट जाको प्रबल प्रतापु ।
विविकर विलसत सहसकर, उग्यो अर्क सम आपु ॥ ३० ॥
सकल अवनि जिहि सोधि कै, कालिय से खल काढ़ि ।
भयो चक्रधर सौं धरैं, तेग चक्र तैं बाढ़ि ॥ ३१ ॥

छंद घनाक्षरी

बाढ्यो जाको चंदु परतापु नव खंडनि मैं
जगमग्यौ जाहिर जिहान जस जालु है ।
दुनी पर दीननि के दारिद विदारिवे कौं
देवतरु सम देख्यो कर को हवालु है ।
पथ्थ सो समथ्थ श्रीकुंवरपालजू को लाल
जासौं जुरि जंग को गहतु करवालु है ।
श्रीजदु-नृपालकुल औतर्यो गुपाल सम
वखतविलास श्रीगुपाल महिपालु है ॥३२॥

सवैया

भूपति मैं दिपैं भानु समान
प्रताप अँतापनि की अधिकाई ।
जीति लई भुज दंडनि सौं महि
नित्य जगी जग कित्ति जुन्हाई ।
गो द्विज की प्रतिपालु करैं
भयो दीनदयालु सदा सुखदाई ।
सिंध गुपाल नृपाल को हाल
विसाल, बढ़ी पुहमी प्रभुताई ॥ ३३ ॥

दोहा

प्रभुताई प्रभु जिमि करैं, पृथिवीपति गोपालु ।
सुखित रहे निसि दिन प्रजा, निरखत वखत विसालु ॥ ३४ ॥
भयो नंदसुत ज्यौं प्रगट, कुँवरपाल नृपनंद ।
बस्यो धरम चार्यो चरन ज्याके देस बिलंद ॥ ३५ ॥
पूरब उत्तर आदि दे, अरु दच्छन दिस देस ।

सुन्यौ न ऐसो भूमि पर, भयो न और नरेस ॥ ३६ ॥
सरस राजधानी लसै, विदित करौरी नाम ।
बसत सकल नर सुखित जहँ, पूरि रहे धनधाम ॥ ३७ ॥
त्रेता औधिपुरी भयो, जैसो रघुवर राम ।
भयो करौरी त्यौं प्रगट, नृप गुपाल इह नाम ॥ ३८ ॥
जैसी विलसी द्वारिका, श्रीगुपाल प्रभु पाइ ।
तैसी नृप गोपालजुत, लसति करौरी आइ ॥ ३९ ॥
ज्यौं अंबर अमरावती, भोगवती पाताल ।
लसति करौरी भूमिपर, त्यौं नृपजुत गोपाल ॥ ४० ॥
प्रजा सुखित दिन रैनि जहँ, चारि वरन सुभ कर्म ।
दुखी न कोऊ देखियै, चलत आपने धर्म ॥ ४१ ॥
रीति जु वेद पुरान की, सुनी सकल निरधारि ।
ताही मारग चलत हैं, आश्रम वरन विचारि ॥ ४२ ॥

छंद घनाक्षरी

संकर वरन सुन्यौ चित्र रचना में जहाँ
चोरी सुनि यति पर विपत्ति विलास की ।
धुजिनि में कंपु हिमकर में कलंक सुन्यौ
छल सुन्यौ तहाँ जहाँ विद्या इन्द्रजाल की ।
वैदक में रोग सुन्यौ सपने वियोगु चित्त
चिंता सुनी जहाँ सबही के प्रतिपाल की ।
औधि की सी रीति अधिकानी जगजानी ऐसी
राजै राजधानी श्रीगुपाल महिपाल की ॥ ४३ ॥

दोहा

कच चक्रपानी मैं सुनी, जहाँ कालिमा नाहिं ।
कनकदंड लखियै जहाँ एक छत्र ही माहिं ॥ ४४ ॥
मुखर जहाँ नूपुर सुनै, चरचा में दिढ़बंध ।
अश्रु होत मख-धूम सौं, गजवर जहाँ मदंध ॥ ४५ ॥
बसत जहाँ गुणवंत नर, चाप हि में गुणभंग ।

लखैं चाबुकनि मारियत, केवल तरल तुरंग ॥ ४६ ॥
पुरी मधूरी ज्यौं लसी, द्वारावती निदान ।
त्यौं गुपाल नृपजुत लखी, पुरी करौरी थान ॥ ४७ ॥
मदनमोहनहि आदि दे, व,[व] सत जहाँ सब देव ।
करत सेव नरनारि जुत, भुंमिदेव नरदेव ॥ ४८ ॥
सोभा देवालयन की, विलसति अमित अपार ।
कहौ कहाँ लौं वर्णि के, होतु ग्रंथ-विस्तार ॥ ४९ ॥
तातै कछु कविकुल वरनि, करिये छंद विचार ।
ग्रंथनि कौ मतु देखि के, निज मति के अनुसार ॥ ५० ॥

अथ कवि-वंश

अनलपाल नृपवंस हुव, पृथ्विराज चहुवान ।
तिनके विरती सुर विदित, चंदु माद (ट) बुधिमान ॥ ५१ ॥
सिवजुत सेइ सकति तिन, भए प्रगट सिवदेव ।
तव तै जानत देवसम, चाहुवान नरदेव ॥ ५२ ॥
सिवा सहित सिव बरु दयौ, ह्वै प्रसन्न इक बार ।
बुधिवर बरदायक विदित, भये सकल संसार ॥ ५३ ॥
फिरि तिहि सेई सुरसरी, चंद सुमति अवतार ।
स्नान होम जप स्तुति करी, अरचा बारंबार ॥ ५४ ॥
ह्वै प्रसन्न गंगा तवहि, सुनि निज नाम हजार ।
हार सहित कंकन दए, तब तै कहै संहार ॥ ५५ ॥
एक लाख रासौ कियौ, सहस पंच परिमान ।
पृथीराज नृप को सुजसु, जाहर सकल जिहान ॥ ५६ ॥
ता कुल मैं परगट भये, मयाराम बुधिवान ।
जिन पर सरस मया करी, दिल्लीपति सुरतान ॥ ५७ ॥
बीसलदेव प्रसिद्ध भौ, भूप भदावर थान ।
बिरती सु रहै आदि तै, मानत नृप चहुवान ॥ ५८ ॥
अकबर साहि कृपा करी, मौज दए दस लच्छ ।
तिनके सुत परगट भये, दामोदर परतच्छ ॥ ५९ ॥
हय हाथी वकसीस दै, साहिजिहाँ सुरितान ।

गज प्रताप खिताब दै, जाहर किए जहान ॥ ६० ॥
नंदराम तिनके भये, सोहति सुमति अनंद ।
थानसिंघ प्रगटे बहुरि, नंदराम के नंद ॥ ६१ ॥
तिन पै सिंघकल्याण नृप, कृपा करी बहु बार ।
तिलक कर्यो राई दई, दए लाखु द्वै बार ॥ ६२ ॥
रतनपाल महिपाल नैं, आदर कर्यो बिसाल ।
निज जसु सुनि बकसे तुरत, हयजुत मुतियन माल ॥ ६३ ॥
थानसिंघ के सुत भये, धरनिधरु बुधिवानु ।
सिवगुपाल महीप नैं, कर्यो सरस सनमानु ॥ ६४ ॥
धरनीधर सुत प्रगट हुव, सुकवि विदित जदुनाथ ।
ग्राम दए कीनी कृपा, श्री अनिरुध नरनाथ ॥ ६५ ॥
जदुकुल में गोपाल सम, लख्यौ नृपति गोपाल ।
तब तै यह इच्छा भई, बरनौं सुजसु बिलासु ॥ ६६ ॥
करतु विलासु गुपाल नृपु, निरखत भयौ हुलासु ।
तातै कवि जदुनाथ यह, बरन्यौ वृत्तविलासु ॥ ६७ ॥
पिंगल को मतु समुझि कै, निज मति के अनुसार ।
कीनौ छंदनि को प्रगट, पारावार अपार ॥ ६८ ॥

यहाँ तक कवि अपने वंश का तथा अपना परिचय देकर आगे 'अथ गुरु अक्षर लक्षन' लिखकर पिंगल के विषय को प्रारंभ करता है। पुस्तक का अंत इस तरह है—

"इति श्रीमन्महाराजाधिराज जदुवंसावतंस श्रीमहीपाल गोपालसिंह कीर्तिप्रकासे सुकवि जदुनाथ-विरचिते वृत्तविलासे दंडकप्रकरने वर्णवृत्तवर्णनं नामद्वितीयोल्लासः ॥ समाप्तोयं वृत्तविलासः" ॥

ग्रंथरचना का समय

कवि यदुनाथ के लेख से ही पाया जाता है कि उसने अपना ग्रंथ 'वृत्तविलास' को करौली के राजा गोपालसिंह के समय में रचा। गोपालसिंह वहाँ के राजा कुँवरपाल (दूसरे) का पुत्र था और उसने वि०सं० १७८१ से १८१४ तक करौली पर राज्य किया था। अतएव वृत्तविलास की रचना वि० सं० १८०० के आसपास होना अनुमान किया जा सकता है।

करौली का राजवंश

वृत्तविलास हिंदी के पिंगल का उत्तम ग्रंथ होने के अतिरिक्त उसमें राजा विजयपाल से लेकर गोपालसिंह तक की करौली के राजवंश के २१ नामोंवाली जो वंशावली दी है, वह कम महत्व की नहीं है। करौली के राजा मथुरा के यादवों के वंशधर हैं और उनका वंश बहुत प्राचीन है। परंतु विजयपाल के पूर्व की उनकी विश्वास योग्य वंशावली नहीं मिलती। जनरल कनिंगहम ने मूकजी भाट की पुस्तक के आधार पर, महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास जी ने अपने 'वीरविनोद' में करौली के इतिहास के प्रसंग में और मेजर स्टूटन ने कप्तान पाउलेट के करौली केगॅजे़टियर के आधार पर लिखी हुई 'शॉर्ट-अकाउंट ऑफ करौली (करौली का संक्षिप्त वृत्तांत)' नामक छोटीसी पुस्तक में करौली के राजवंश की नामावली देने का यत्न किया है, परंतु उन सब में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य है। किसी में कुछ नाम रह गए हैं; तो किसी में कुछ अधिक हैं। उन सब से पुरानी वंशावली (जो आज से अनुमान १८० वर्ष पूर्व की लिखी हुई है) कवि यदुनाथ की है। उसी को मैं विश्वास योग्य मानता हूँ।

कवि का वंश

जदुनाथ अपने को प्रसिद्ध हिंदी कवि चंद बरदाई का वंशज बतलाता है और चंद के वंशधर मयाराम से अपने को छठा पुरुष बतलाता है। महत्व की दूसरी बात यह है कि जदुनाथ चंद के रचे हुए पृथ्वीराज रासे का परिमाण एक लाख पाँच हजार (श्लोक) होना बतलाता है। वह एक अच्छा कवि और चंद का वंशधर था, अतएव उसका यह कथन निर्मूल नहीं माना जा सकता। आजकल कई विद्वान् परंपरागत जनश्रुति के आधार पर चंद को हिंदी का आदि कवि मानने लग गए हैं और रासे की घटनाओं के बहुधा कल्पित होने का कारण यह बतलाते हैं कि चंद ने पृथ्वीराजरासा इतना विस्तृत नहीं लिखा था। वह तो छोटा सा ग्रन्थ था, जिसमें क्षेपक मिलाकर पीछे से कवि लोगों ने उसको इतना विस्तृत कर दिया है; परन्तु चंद का वंशधर जदुनाथ ही इस कथन को निर्मूल बतलाता है। महामहोपाध्याय हरप्रसादजी शास्त्री ने यह भी लिखा था कि चंद का मूल ग्रन्थ उसके वंशधर जोधपुर के ब्रह्मभट्ट नानूराम के यहाँ विद्यमान है। मैंने उसको भी देखा, तो मालूम हुआ कि उसमें और काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के प्रकाशित किए हुए पृथ्वीराज रासे में कोई विशेष अन्तर नहीं है। नानूराम की पुस्तक रासे का एक अंश मात्र ही है, न कि चंद का रचा हुआ संक्षिप्त रासा। रासे की रचना के समय के संबंध में भी वैसा ही भ्रम फैला हुआ है, जैसा कि अनंद विक्रम संवत् के विषय में फैला हुआ था। जो विद्वान् चंद को हिंदी का कवि और सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, उनसे मेरी नम्र प्रार्थना है कि वे एक बार रासे में अंकित की हुई घटनाओं एवं चौहानों की वंशावली आदि की प्राचीन शोध की कसौटी पर जाँच करें। यदि ऐसा करने पर यह सिद्ध हो

ा कि चंद सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन था, तो उसे हिंदी का आदि कवि मानना यथार्थ होगा। तु खेद का विषय है कि अब तक किसी हिंदी-प्रेमी विद्वान् ने ऐसी जाँच कर चंद के समय का ार्थ निर्णय करने का यत्न ही नहीं किया। मैं किसी समय इस विषय पर एक लेख प्रकाशित कर बतलाने की चेष्टा करूँगा कि जैसे अनंद विक्रम संवत् की सृष्टि कल्पित है, वैसे ही चंद को हिंदी आदि कवि मानना भी भ्रम ही है।

———

२. एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ

(श्री सत्यकेतु विद्यालंकार के 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' पर समालोचना)

प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास अधिकतर अपूर्ण है। उसकी शृंखलाबद्धता ही अभी तक पूरी नहीं हुई। यदि एक समय का इतिहास मिल गया है तो उसके आगे का इतिहास उपलब्ध नहीं है। रामायण और महाभारत के बीच का इतिहास थोड़े से राजाओं के नामों के सिवा कुछ ज्ञात नहीं। इसी तरह महाभारत के आगे प्राग्बौद्धकाल तक का इतिहास भी अधिकांश में अन्धकार में है। ऐसी अवस्था में हम भारतीयों को अपने प्राचीन इतिहास के गौरव के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न होता, यदि मौर्य-काल का इतिहास न मिलता। धन्य हैं वे ग्रीक यात्री, जिन्होंने तात्कालिक भारत के सम्बन्ध में अपने वर्णन लिखे हैं। उन बिखरे हुए वर्णनों को इकट्ठा करने से मौर्यकाल के उज्जवल और गौरवपूर्ण इतिहास का ज्ञान हुआ। उसके बाद पाश्चात्य विद्वानों के निरन्तर प्रशंसनीय शोध के प्रयत्न से अशोक के धर्मलेखों का ज्ञान हुआ। बौद्ध-साहित्य ने भी तात्कालिक इतिहास जानने में बहुत सहायता दी। पुराण आदि में भी इस काल का वर्णन मिलता है। चीनी यात्रियों ने भी अपने यात्रावर्णनों में बहुत-सी आवश्यक बातें लिखी हैं। अन्त में कौटिलीय अर्थशास्त्र की खोज ने तो मौर्यकाल पर गहरा प्रकाश डाला है। इन सब सामग्रियों के प्राप्त हो जाने के कारण भारतीय प्राचीन इतिहास में जितना अधिक स्पष्ट और पूर्ण इतिहास मौर्यकाल का मिलता है, उतना अन्य किसी काल का नहीं। यदि हम केवल मौर्यकालिक इतिहास को लें तो भी अपने गौरवपूर्ण अतीत पर गर्व कर सकते हैं और कह सकते हैं की भारतवर्ष संसार के देशों से अधिक उन्नत था और प्रत्येक क्षेत्र—राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक आदि में वह उन्नति की सीमा पर था। प्रसिद्ध ऐतिहासिक विंसेण्ट स्मिथ ने चन्द्रगुप्त के राज्यविस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है— 'दो हजार साल से भी अधिक पूर्व भारत के प्रथम सम्राट् ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त किया था, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते हैं और जिसको सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं किया।" प्रसिद्ध विद्वान एच०जी०वेल्स की सम्मति में सारे इतिहास के असंख्यात विजेताओं और चक्रवर्ती सम्राटों में केवल अशोक (मौर्य) ही ऐसा योग्य है कि उसकी गणना संसार के छः महापुरुषों में की जा सके।

मौर्यकालिक भारत पर अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, परन्तु हिन्दी में दो-एक छोटी-छोटी पुस्तकों के सिवा अब तक कोई अच्छी पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई थी। प्रसन्नता की बात है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ा के सुयोग्य स्नातक अध्यापक सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' नाम से एक बहुत उत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है। इस पुस्तक को देखकर हमें बहुत अधिक प्रसन्नता हुई। हम इस लेख में इसी की समालोचना करना चाहते हैं।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में लेखक ने मौर्य इतिहास की आवश्यक सामग्री का विस्तृत रूप से विवेचन करते हुए बताया है कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य (कौटिलीय-अर्थशास्त्र, मुद्राराक्षस, पुराण, कलियुगराजवृत्तान्त, राजतरंगिणी, आदि) बौद्धसाहित्य (दीपवंश, महावंश, दिव्यावदान आदि), जैन साहित्य (हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्व, भद्रबाहु चरित्र आदि), ग्रीक यात्रियों के विवरण (हिरोडोटस, कैसियस, टाल्मी, मैगस्थनीज, प्लिनी, पैरिप्लस और स्ट्रैबो आदि), चीनी यात्रियों के विवरण (फाहियान, सुंगयुन, और ह्यूनत्सांग), तिब्बती साहित्य और प्राचीन शिलालेख मौर्य इतिहास के बनाने में बहुत अधिक सहायता दे सकते हैं। इस अध्ययन में कोई ऐसी आवश्यक सामग्री नहीं बची, जिसका उल्लेख लेखक ने न किया हो। ग्रीक यात्रियों के वर्णनों को तात्कालिक सामाजिक अवस्था के ज्ञान के लिए अधिक प्रामाणिक मानना ठीक नहीं है। ग्रीक यात्रियों के उपलब्ध वर्णनों में कई इतनी भारी भूलें रह गई हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। कतिपय ग्रीक यात्री लिखते हैं कि भारतीय लिखना और और धातुओं को गलाना नहीं जानते थे, उन्हें पांच धातुओं का ही ज्ञान था, उनमें दास-प्रथा नहीं थी इत्यादि। ग्रीक यात्रियों के वर्णनों को उद्धरण रूप में लिखने वाले प्राचीन लेखकों ने चाहे उसमें परिवर्तन कर दिया हो, या कोई अन्य कारण हो उनका वर्तमान रूप बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं है। यह ठीक है कि लेखक ने ऐसे कथनों पर ध्यान नहीं दिया, परन्तु इतने बड़े ग्रंथ में इस प्रश्न पर अवश्य ध्यान देना चाहिए था।

कुछ समय से श्री टी० एस० नारायण शास्त्री श्री एम०के० आचार्य और श्री टी० सुब्बाराव प्रभृति विद्वानों ने यह आवाज उठाई है कि वर्तमान ऐतिहासिकसम्मत तिथि-क्रम ठीक नहीं है। चन्द्रगुप्त और ग्रीक यात्रियों का सैण्ड्राकुट्टस गुप्तवंशी समुद्रगुप्त का नाम है, जिसने चन्द्रश्री को मारकर राज्य प्राप्त किया था। इसी सम्बन्ध में श्रीनारायण शास्त्री ने ग्रीक समसामयिकता (Greek synchroniom) को न मानकर पर्शियन समसामयिकता की कल्पना की है और अनेक युक्तियों द्वारा पूर्ववर्णित इतिवृत्त को स्वीकार करते हुए एक नया तिथि-क्रम बताया है, जिसके अनुसार मौर्य वंश का समय १५३५ ई०पू० से १३१६ ई०पू०तक जाता है। श्रीयुत आचार्य रामदेवजी ने भी इसी तिथिक्रम को मानकर भारतीय इतिहास लिखा है। परन्तु वस्तुतः यह तिथिक्रम दृढ़ आधारों पर स्थित नहीं है। इसके सिद्ध

करने के लिए उन्हें तीन अशोकों की कल्पना करनी पड़ती है, जो किसी प्रकार भी युक्तियुक्त नहीं हो सकती। प्रो० सत्यकेतु विद्यालंकार ने दूसरे अध्याय में उक्त पत्त को योग्यतापूर्वक रखकर उसका बहुत उत्तमता से खण्डन किया है और सिद्ध किया है कि मौर्यवंश का समय ३२० ई० पू० से ही प्रारम्भ होता है।

तीसरे अध्याय में विद्वान् लेखक ने प्राचीन भारत में साम्राज्यों की सत्ता और उनका रूप दिखाते हुए मगध के साम्राज्य के विकास पर बहुत उपयोगी मनोरंजक प्रकाश डाला है। बौद्धकाल में सोलह प्रसिद्ध जनपद थे। (इसका चित्र भी दिया गया है)। इनकी शासनप्रणालियां भी भिन्न थीं। शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को दबाते थे। इन सोलह राष्ट्रों में परस्पर संघर्ष होता रहा। चार राजतन्त्र राज्य (मगध, कोशल, वत्स और अवन्ती) बहुत प्रबल थे। ये सभी उस समय के प्रजातन्त्र राष्ट्रों को और एक दूसरे को नष्ट करना चाहते थे। मगध और कोशल परस्पर प्रभुता के लिए युद्ध करते थे और उधर वत्स और अवन्ती। इन दोनों के संघर्ष की कथायें बौद्ध साहित्य में विस्तार से मिलती हैं। बौद्ध साहित्य में ज्ञात होता है कि मगध के अजातशत्रु ने वॆज्जेन जनतन्त्र राष्ट्र संघ (जो बहुत अधिक प्रबल था और जिसमें १० राष्ट्र सम्मिलित थे) में परस्पर भेदनीति से काम लेकर उसे जीत लिया। उधर कोशल के राजा विदूदभ ने शाक्यों के जनतन्त्र राष्ट्र पर अधिकार कर लिया। इसी तरह बहुत समय तक चारों राष्ट्रों का परस्पर और प्रजातन्त्र राष्ट्रों से संघर्ष जारी रहता है। इसके बाद सिकन्दर के समय तक क्या होता है, कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर एकाएक परदा उठता है और हम देखते हैं कि केवल मगध ही साम्राज्य बनाने में सफल हुआ है, परन्तु सम्पूर्ण भारत पर नन्द का राज्य नहीं था। अर्थशास्त्र में अनेक प्रजातन्त्र राष्ट्रों के नाम आते हैं। यूनानी ऐतिहासिक भी मल्लोई (मल्ल) अक्सिड्राकोई आदि प्रजातन्त्रों का वर्णन करते हैं। लेकिन फिर भी उत्तरीय भारत में सबसे प्रबल सम्राट नन्द ही था। इस के बाद चन्द्रगुप्त आता है। मगध ही साम्राज्य बनाने में सफल क्यों हुआ, इस पर लेखक ने बहुत अच्छा विचार किया है। उनका कहना है कि मगध बहुत प्राचीनकाल से प्रबल और साम्राज्यवादी था। फिर मगध में अनार्य लोगों की अधिकता के कारण राजा की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अनार्यों को स्वल्प वेतन पर सैनिक रक्खा जा सकता था। मगध के आसपास हाथियों की बहुतायत से भी उसकी हस्तिसेना बहुत प्रबल थी।

पुराणों के 'नन्दान्तं चत्रिय कुलम्' और चन्द्रगुप्त के शूद्र होने की कथा से यह समझा जाने लगा है कि उसके बाद चत्रिय रहे ही नहीं। स्वयं भारतीय भी अपना इतिहास भूल गये और चौहानों, प्रतिहारों, परमारों आदि ने अपने को अग्निवंशी मानकर नई कल्पना की। यहाँ तक कि कर्नल टॉड और विंसेण्ट स्मिथ आदि ने भी राजपूतों को हूण और शकजातीय माना है। परन्तु यह बड़ा भारी

भ्रम है। हमने अपने ग्रन्थ राजपूताने के इतिहास के दूसरे अध्याय में इस पर प्रकाश डालने का यत्न किया है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने चन्द्रगुप्त कौन था, इस विषय पर चतुर्थ अध्याय में अच्छा विचार किया है। चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में तीन मत मिलते हैं। (१) नन्द की शूद्रा पत्नी मुरा से वह उत्पन्न हुवा था (मुद्राराक्षस), (२) चन्द्रगुप्त महापद्मानन्द का पुत्र था (कथा सरित्सागर) और, (३) चन्द्रगुप्तमौर्यवंश का राजकुमार था, जिसे चाणक्य ने योग्य समझकर नन्द की गद्दी पर बिठाया (महावंश)। लेखक ने इन तीनों मतों की विस्तृत आलोचना कर अन्तिम पक्ष को ही अधिक सम्भव और युक्तियुक्त माना है। है भी वस्तुतः यही ठीक। जैन साहित्य ने भी चन्द्रगुप्त को मौर्यवंश का माना है।

चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नन्द के राज्य पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इसी समय सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। लेखक ने पाँचवें अध्याय में उसकी विजययात्रा का वर्णन करते हुए बताया है कि उसके आक्रमणों के कारण पश्चिमोत्तर भारत में अनेक उथलपुथल हो रहे थे। इस विशेष अवस्था का चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उपयोग कर नन्द और सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। ग्रीक लेखक जस्टिन ने चन्द्रगुप्त के सिकन्दर से मिलने और विद्रोह करने का उल्लेख किया है। पंजाब और सीमाप्रान्त को भी सिकन्दर के शासन से मुक्तकर उसने अपने अधिकार में कर लिया। फिर यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक आदि पश्चिमी भारत-निवासियों की सहायता से उसने पाटलिपुत्र को घेर लिया। यहाँ चाणक्य ने अपनी नीतियों का प्रयोग कर चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठाया, जिसका वृत्तान्त मुद्राराक्षस में है। ग्रीक लेखकों ने भी नन्द पर के इस आक्रमण का वर्णन किया है।

इधर चन्द्रगुप्त अपने साम्राज्य की वृद्धि कर रहा था, उधर उसके प्रधान–विरोधी सैल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया, परन्तु चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित किया। सन्धि में उसने चन्द्रगुप्त से ५०० हाथी लेकर अपनी कन्या उसे दी और बहुत-सा प्रदेश भी चन्द्रगुप्त को मिला। छठे अध्याय में ग्रीक लेखकों के आधारों पर इसी कथा को विस्तार से लिखते हुए पं० सत्यकेतु विद्यालंकार हमें विन्सेण्ट स्मिथ के शब्दों में बताते हैं कि इस सन्धि से चन्द्रगुप्त का राज्य हिन्दकुश पर्वत श्रेणी तक हो गया था, जिसे अंग्रेज आज भी नहीं पा सके। सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में अपना दूत मैगस्थनीज भेजा। चन्द्रगुप्त ने गणतन्त्र राज्यों को नष्ट कर या मिलाकर अपने साम्राज्य को स्थिर किया।

आगे के छः अध्यायों (१४६–४१४ पृष्ठ) में विद्वान् ग्रन्थकर्ता ने कौटिल्य-अर्थशास्त्र आदि के आधार पर चन्द्रगुप्तकालिक भारत का विस्तृत प्रामाणिक वर्णन किया है। इन अध्यायों में शासन-व्यवस्था, शासन-पद्धति, राजकोष आयव्यय, सार्वजनिक हित के कार्य (सिंचाई, चिकित्सालय आदि)

आवागमन के साधन, कृषि, व्यवसाय, कृषकों, व्यापारियों और व्यवसायियों के संगठन, दासप्रथा, सामाजिक स्थिति, रीतिरिवाज, धार्मिक विश्वास, डाक प्रबन्ध आदि का बहुत उपयोगी वर्णन किया गया है। इन अध्यायों को पढ़ने से हिन्दू राजनीति (Hindu Polity) का बहुत अधिक ज्ञान हो जाता है। इस विषय पर लिखे गये प्रायः सभी प्रामाणिक ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। स्थान स्थान पर कई विद्वानों से मतभेद भी किया गया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उक्त विषयों पर एक साथ इतना प्रामाणिक विवेचन दूसरे ग्रंथ में मिलना कठिन है। इसके पढ़ने से कौटिल्य-अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। विस्तार-भय से इस छोटे से लेख में अधिक नहीं लिख सकते। अस्तु।

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष तक राज्य किया। उसके अन्तिम समय के सम्बन्ध में प्राचीन विद्वानों में बहुत मतभेद है। जैन साहित्य के अनुसार उज्जैन के राजा चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली से जैन-धर्म की दीक्षा ली। राज्य में बारह वर्ष का अकाल पड़ा, सब तरह के उपाय किये गये, परन्तु सफल न होने पर चन्द्रगुप्त उक्त आचार्य के साथ श्रवण बेलगोला (मैसूर) गये और अनशन व्रत लेने के कारण उनका वहीं देहान्त हुआ। अनेक आधुनिक विद्वान् भी इसमें एकमत नहीं हैं। डॉ० फ्लीट प्रभृति विद्वान् जैन कथाओं को अप्रमाणिक समझते हैं और वि० स्मिथ (Early History of India तीसरे संस्करण में) उनकी सत्यता स्वीकृत करते हैं। मैसूर से प्राप्त शिलालेखों को प्रकाशित करते हुए श्रीयुत लुइस राइस उनके आधार पर अशोक के पितामह-ग्रीकों के सैण्ड्राकोटस चन्द्रगुप्त का जैन होना स्वीकार करते हैं। अ० सत्यकेतु १४ वें अध्याय में इन सब पक्षों को रख कर लिखते हैं कि यदि कुछ अधिक गंभीर दृष्टि से देखा जाय, तो उक्त चन्द्रगुप्त अशोक का दादा नहीं, किन्तु पौत्र था, जिसे जैन साहित्य में सम्प्रति कहा जाता है और जो उज्जयिनी का प्रसिद्ध जैन सम्राट् हुआ है, पुण्याश्रव कथा में स्पष्टतः दो चन्द्रगुप्तों का वर्णन है और दूसरे चन्द्रगुप्त अशोक के पौत्र का जिनधर्म की दीक्षा ले कर श्रवण बेलगोला में जाना लिखा है। राजावलिकथा का श्रवण बेलगोला में जाने वाला चन्द्रगुप्त भी अशोक का पौत्र है। भद्रबाहु चरित्र में भी अशोक के पितामह या पौत्र किसी चन्द्रगुप्त को विशिष्ट नहीं किया। परिशिष्ट पर्व में अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त की मृत्यु तक की कथा लिखी है, परन्तु उसमें भी उसके श्रवण बेलगोला जाने का उल्लेख नहीं है।

चन्द्रगुप्त के बाद २९८ ई में बिन्दुसार गद्दी पर बैठा, जिसे ग्रीक लेखकों ने 'अमित्रो चेटस' लिखा है; जो संभवतः अमित्रघात का ग्रीक रूप हो। इसके शासन की मुख्य घटना हमें मालूम नहीं, किन्तु १६ वीं शताब्दी के तिब्बती लेखक तारानाथ ने बिन्दुसार का चाणक्य की सहायता से सोलह राज्यों पर विजय प्राप्तकरना लिखा है। परन्तु इन विजयों का अधिक वर्णन नहीं मिलता। संभव है कि

उसने चन्द्रगुप्त के प्रारंभ किये हुए साम्राज्य-विस्तार को जारी रक्खा हो और दक्षिण में विजय की हो। चाणक्य बिन्दुसार का भी मन्त्री रहा था, जैसा कि परिशिष्ट पर्व की एक कथा से ज्ञात होता है। बिन्दुसार के समय तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ, जिन्हें शमन करने के लिए क्रमशः राजकुमार अशोक और सुषिमा (सुषीम) गये। बिन्दुसार का भी विदेशों से सम्बन्ध था और यूनान का दूत डायमेचस और मिश्र का डायोनीसियस आये थे। बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक राज्य किया।

२७२ ई०पू० अशोक गद्दी पर बैठा। प्राचीन बौद्ध लेखकों ने अशोक के राज्यारोहण पर लिखते हुए उसका अपने ९९ या ९८ भाइयों को मार कर गद्दी पर बैठना लिखा है। अध्यापक सत्यकेतु ने १५ वें अध्याय में अनेक बौद्ध कथायें लिख कर श्रीयुत् देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर और वि०ए० स्मिथ का उद्धरण देते हुए उक्त घटना को अनैतिहासिक सिद्ध किया है। अशोक के शिला-लेखों में उसके अनेक भाइयों का उस समय जीवित रहना स्पष्ट है, इसलिए अपने सब भाइयों की हत्या की घटना गप्प है।

बौद्ध साहित्य अशोक के शासनकार्यों, साम्राज्य-विस्तार आदि के सम्बन्ध में बहुत कम प्रकाश डालता है, क्योंकि बौद्ध ग्रन्थ अशोक के बौद्धधर्म-प्रेम को लक्ष्य रखकर उसका वर्णन करते हैं। शिलालेख कुछ अधिक सहायक हैं, पर प्रायः वे भी धार्मिक आज्ञाओं के रूप में हैं।

अशोक बड़े विशाल साम्राज्य का स्वामी होकर गद्दी पर बैठा था, परन्तु उसने राज्य को और भी बढ़ाया। अपने राज्य के आठवें वर्ष उसने कलिंग देश पर आक्रमण किया। कलिंग उन दिनों बहुत अधिक शक्तिशाली राज्य था। मेगस्थनीज ने उसकी सेनायें ६० हजार, १००० घुड़सवार और १००० हाथियों का होना लिखा है। अशोक ने बड़ा भारी युद्ध कर उसे जीत लिया। इसमें कलिंग के एक लाख आदमी मारे गये, डेढ़ लाख कैद किये गये और इससे कई गुना अधिक मनुष्य युद्ध के बाद आने वाली स्वाभाविक विपत्तियों के कारण मर गये। इस व्यर्थ हत्या को देखकर सम्राट अशोक का हृदय द्रवीभूत हो गया और उसने युद्ध-विजय बन्द कर दी। कलिंग के दो शिलालेखों और चतुर्दश लेखों में १३ वें लेख में अशोक ने कलिंग को निर्भय करने और प्रजा का पुत्रवत् शासन करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। कलिंग-विजय उसका अन्तिम युद्ध था, परन्तु उससे पूर्व कितने युद्ध हुए थे, यह नहीं कहा जा सकता। राजतरंगिणी में काश्मीर के राजाओं का परिगणन करते हुए अशोक का भी उल्लेख किया गया है। सैल्यूकस ने सन्धि में जो प्रदेश चन्द्रगुप्त को दिये थे, उनमें काश्मीर न था, इससे बहुत सम्भव है कि अशोक ने काश्मीर को विजय किया हो।

अशोक का राज्य बहुत अधिक विस्तृत था। भारत की प्रायः सुदूर सीमाओं तक उसके शिलालेख मिले हैं। धौली (पुरी जिला), जौगड़ (गंजाम) कालसी (देहरादून) मानसेरा (एवटा-

बाद से १५ मील), शाहबाजगढ़ी (पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व), जूनागढ़ और सोपारा (बम्बई से ३० मील उत्तर) में चतुर्दश लेखों की प्रतियाँ मिली हैं। सुदूर दक्षिण (मैसूर और हैदराबाद तक) में कई छोटे-छोटे शिलालेख मिले हैं। इससे अशोक के राज्य की सीमा मालुम हो जाती है। इसके बाद प्रो० सत्यकेतु ने शिलालेखों की अन्तःसाक्षियों के प्रमाणों से अशोक की साम्राज्य-सीमा नियत करने का प्रबन्ध किया है, जिसमें वे सफल भी हुए हैं ।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक एच० जी० वेल्स ने संसार के असंख्य राजाओं और विजेताओं में केवल अशोक को ही क्यों संसार के छः महापुरुषों में माना है, इसका उत्तर प्रो० सत्यकेतुजी ने प्रस्तुत ग्रंथ के १७ वें अध्याय में बहुत विस्तार से दिया है। ऊपर कहा जा चुका है कि कलिंग विजय के बाद अशोक ने युद्ध बन्द कर दिये। शस्त्र द्वारा विजय को छोड़कर उसने धर्म द्वारा संसार का विजय प्रारंभ किया और एक लेख में उसने स्पष्ट लिखा भी है कि धर्म-विजय को ही देवताओं के प्रिय (अशोक) मुख्यतम विजय मानते हैं। इस धर्म-विजय से अनेक ऐतिहासिकों का मत है कि यहाँ धर्मविजय से बौद्ध धर्म ही अभिप्रेत है, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने उसके शिलालेखों से अनेक प्रमाण देखकर सिद्ध किया है कि 'धर्म' से बौद्ध धर्म अभिप्रेत नहीं है। सब सम्प्रदायों के सामान्य धर्म, गुरु, माता-पिता की सेवा, ब्राह्मणों को दान, अहिंसा, सत्य, शौचादि ही अशोक का प्रचारित धर्म है। श्रीयुत मैकफ्रायल, स्मिथ और भण्डारकर प्रभृति विद्वानों ने भी उसके 'धर्म' की यही व्याख्या स्वीकार की है। अशोक केवल धर्म-सम्बंधी आज्ञायें निकालकर शान्त नहीं हो गया, परन्तु उसने धर्मप्रचार के लिए बड़ा भारी संगठन किया। धर्ममहामात्र नामक अधिकारियों को नियुक्त किया, जो लोगों के आचार-व्यवहार का निरीक्षण करते थे। ये महामात्र किसी एक सम्प्रदाय के प्रचारक नहीं होते थे, परन्तु सभी सम्प्रदायों में धर्म के सामान्य तत्व सिखाने के लिए रक्खे जाते थे। धर्ममहामात्रों के अतिरिक्त स्त्रीमहामात्र, वृजभूमिक और अन्य कर्मचारी भी नियुक्त थे। साधारणतः राज्याधिकारियों को आज्ञा दी गई थी कि वे धर्म के सामान्य तत्त्वों का ज्ञान जनता को करावें। अशोक के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसका यह धर्म-विजय अपने राज्य तक ही सीमित नहीं था, परन्तु चोल, पाण्ड्य, ताम्रपर्णी आदि पड़ोस के राज्यों और सीरिया, पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान आदि में भी उसने धर्म-विजय की। उन देशों में अपने राजदूतों के नीचे महामात्रों को नियुक्त किया और वहाँ भी सार्वजनिक हित के कार्य किये। रेज़ डेविडस प्रभृति पाश्चात्य विद्वान इस बात के मानने से इन्कार करते हैं कि यूनान में धर्म की शिक्षा दी गई हो, परन्तु अपने पक्ष में कोई ऐतिहासिक युक्ति उन्होंने नहीं दी। यह स्मरण रखना चाहिए कि अशोक का दया-धर्म केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं था, उसने पशु-चिकित्सा का भी प्रबन्ध किया था और पशुहत्या को कम करने का उद्योग

किया था। यही 'धर्म-विजय' ही अशोक का सबसे महान कार्य था, जिसने उसे अमर कर दिया।

अशोक केवल एक धार्मिक राजा नहीं था, उसने केवल सामान्य धर्म का प्रचार नहीं किया, किन्तु वह बौद्ध भी था। एक राजा की स्थिति से उसने सामान्य धर्म का प्रचार किया, परन्तु बौद्ध धर्म का अनुयायी होने की स्थिति से उसने बौद्ध धर्म के प्रचार में भी बहुत उद्योग किया। १८ वें अध्याय में विद्वान लेखक ने अशोक के बौद्ध धर्म-ग्रहण की अनेक कथायें लिख कर उसके बौद्ध-धर्म-प्रचारक के रूप में किये गये प्रयत्नों का उल्लेख किया है। बौद्ध संघों के ठीक-ठीक चलाने में उसका काफ़ी हाथ था। संघों में फूट डलवाने वाले को वह दण्ड देता था। तीसरी बौद्ध महासभा की आयोजना भी उसीने की। इन बातों को देख कर डाक्टर भांडारकर ने उसे धर्मगुरु और बौद्ध संघ का मुखिया माना है, जो इस ग्रन्थ के लेखक की सम्मति में ठीक नहीं है। यदि उसका स्थान पोप के सदृश होता, तो वह यह कभी न लिखता कि समवाय अच्छा है। लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। सब सम्प्रदाय वाले बहुत विद्वान और कल्याणकारी हों।

उन्नीसवें अध्याय में विविध देशों में बौद्ध धर्म के विस्तार का विस्तृत वर्णन है, जो बहुत उपयोगी, प्रामाणिक और मनोरंजक है। बौद्ध धर्म की तीसरी महासभा के अन्त में यह निश्चय किया गया कि बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए विविध देशों में भिक्षु भेजे जावें। इसके लिये एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण संगठन हुआ। स्मिथ के शब्दों में संसार के इतिहास में धार्मिक प्रचार के लिए इमसे अधिक पूर्ण और संगठित प्रयत्न कभी नहीं हुआ। इस संगठन का प्रधान नायक मोद्गलिपुत्र तिष्य था, जिसकी अधीनता में सब कार्य होरहा था। लंका में अशोक का पुत्र महेन्द्र अपनी बहन संघमित्रा के साथ बौद्ध धर्म का प्रचार करने गया था। बौद्ध साहित्य में इसका विस्तृत वर्णन है। मैसूर में महादेव और महाराष्ट्र में महाधर्मरक्षित गये। खोतान में कुस्तन की अध्यक्षता में एक मिशन गया, जिसका वर्णन तिब्बती साहित्य में मिलता है। महावंश के अनुसार काश्मीर और गांधार में प्रचार के लिए थेर (स्थविर) मज्झान्तिक, वनवासी देश (उत्तरीय कनारा) में; आचार्य रक्षित, अपरान्तक (बम्बई का उत्तरीयतट) में थेरयोनक हिमवन्त में आचार्य मज्झिम और सुवर्णभूमि (वेगू और मोलमीन) में थेरसोण आदि गये! यद्यपि महावंश के वर्णन में अत्युक्ति बहुत है, परन्तु उससे उस लहर का अच्छा ज्ञान हो जाता है, जो बौद्ध धर्म का प्रचार कर रही थी।

अशोक का साम्राज्य चन्द्रगुप्त के साम्राज्य से अधिक विस्तृत था, इसलिए उसका शासन करने के लिए उसे कई प्रान्तों और उपप्रान्तों में विभक्त कर दिया था। तक्षशिला, सुवर्णगिरि, तुषाली और उज्जयिनी बड़े प्रान्त थे, जिनका शासन कुमार करते थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे प्रान्त थे। लेखक ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए यह सिद्ध किया है कि उस समय

भी मन्त्रीपरिषद् और पौरसभा होती थीं। प्रान्तों में भी पौरसभाओं की सत्ता थी। राजा प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र नहीं रहता था, जब अशोक बौद्धों को बहुत दान देने लगा और राज्य-कोष पर भी उसने हाथ चलाया, तो मन्त्रियों ने उसके सब अधिकार छीन लिये और अन्त में आधा आँवला उसके पास रह गया, जो उसने कुक्कुटाराम के पास भेज दिया। राजा की सहायता के लिए प्रधान राजकर्मचारी होते थे, जिन्हें राज-कार्य सौंपकर राजा निश्चिंत हो जाते थे, जैसा कि अशोक के एक शिलालेख से पाया जाता है। प्रादेशिक मुक्त नागरिक और व्यावहारिक नाम के कर्मचारी भी होते थे। पुरुषों में धर्म-प्रचार के लिए धम्ममहामात्र और स्त्रियों में स्त्रीमहामात्र नियुक्त थीं। लेखक ने बीसवें अध्याय में इन सब बातों को योग्यतापूर्वक दिखलाया है।

आगे के तीन अध्यायों में सत्यकेतुजी ने क्रमशः अशोक के शिलालेख, मौर्यकालीन कृतियों (Monuments) और अशोक कालीन भारत का वर्णन किया है, जो बहुत उत्तम है। चौबीसवें अध्याय में लेखक ने सम्राट अशोक का इतिहास में स्थान, विषय पर बहुत उत्तम विवेचना की है और कान्स्टैनटाइन 'मार्कस ओरलियस'; अकबर, सिकन्दर और सीजर के साथ तुलना करते हुए सिद्ध किया है कि अशोक ही सबसे अधिक महान् था।

डाक्टर भांडारकर और जायसवाल प्रभृति ऐतिहासिकों का विचार है कि भारतीय इतिहास पर अशोक की नीति का बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ा। चन्द्रगुप्त की विश्वविजयिनी सेना अशोक के धार्मिक और अहिंसात्मक उपदेशों के कारण इतनी क्षीण होगई कि उसके अन्तिम समय यूनानियों ने पश्चिमोत्तरी प्रान्त पर आक्रमण कर दिया और उसके बाद यह द्वार सदा के लिए खुल गया। आन्ध्र, पल्लव आदि जातियों के आक्रमण होने लग गये। अशोक के मरते ही आन्ध्र और कलिंग स्वतन्त्र हो गये। कौटिलीय अर्थशास्त्र से तत्कालीन भारत की नैतिक सभ्यता की उन्नति स्पष्ट मालूम होती है, परन्तु अशोक के आध्यात्मिक धर्म-प्रचार के कारण यह उन्नति भी रुक गई और लोगों का ध्यान दण्डनीति आदि विषयों से हट गया। अशोक की नीति के कारण भारतवर्ष एकच्छत्र के नीचे अधिक समय तक न रह सका, जिससे भारत की राजनैतिक आकांक्षा, राष्ट्रीयता, नष्ट हो गई। अशोक की नीति के कारण ही उसके बाद मौर्य साम्राज्य नष्ट हो गया। अ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने २५ वें अध्याय में इस पक्ष को रख कर इसका खण्डन करते हुए पूछा है कि यदि अशोक की नीति इतनी हानिकारक थी, तो मौर्यसाम्राज्य के बाद क्या दण्डनीति आदि शास्त्रों की उन्नति नहीं हुई? महाभारत (शान्तिपर्व), बृहस्पतिसूत्र, नीतिवाक्यामृत, राजनीतिरत्नाकर, राजनीति मयूख आदि नहीं लिखे गये? क्या उसके बाद स्थापत्य, भवननिर्माण, चित्रकला आदि की उन्नति नहीं हुई? क्या एलोरा, एजण्टा आदि गुफायें और श्रीरंगम् आदि के मन्दिर, स्तूप आदि कि भारतीयों की भौतिक उन्नति

के प्रमाण नहीं है ? क्या वस्तुतः अशोक के बाद भारत की राजनैतिक आकांक्षा और सैनिक प्रतिभा नष्ट हो गई ? गुप्तों का साम्राज्य क्या राजनैतिक आकांक्षा और सैनिक प्रतिभा का परिचय नहीं देता, बौद्ध हर्षवर्धन और बौद्ध पालवंशी राजा क्या साम्राज्यों का निर्माण नहीं कर सके ? इन ऐतिहासिक प्रमाणों को देखते हुए क्या अशोक की नीति पर उक्त दोष लगाया जा सकता है ? फिर क्या अशोक के बाद विदेशियों ने सम्पूर्ण भारत पर अधिकार कर लिया ? यह ठीक है कि विदेशी आक्रान्ता मगध के साम्राज्य को नष्ट कर सके, परन्तु क्या उसमें अशोक की नीति ही प्रबल कारण थी ? क्या साम्राज्य के नष्ट होने में प्रजातन्त्र राज्यों का स्वातन्त्र्यप्रेम और अकेन्द्रीयभाव मुख्य कारण नहीं थे ? अशोक के सात सदियों बाद गुप्तवंश के समय तक क्या विदेशियों के अधिकार में काफी भारत चला जा चुका था ? यदि नहीं तो उसके बाद के विदेशी आक्रमणों का कारण अशोक की नीति कैसे हो सकती है ? वस्तुतः अशोक की नीति का प्रभाव हानिकारक नहीं था। बौद्ध धर्म ने भारत को निर्बल कर दिया, यह कहना भ्रम है। जो लोग पामीर की पर्वतमालाओं, तुर्किस्तान के मरुस्थलों और हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों की पर्वाह किये बिना अपना कार्य कर सकते थे, जिन्होंने उत्तरी चीन की जंगली जातियों को भी सभ्यता और संस्कृत का पाठ सिखाया, वे बौद्ध प्रचारक क्रियाशीलता और उत्साह से शून्य न थे।

तब मौर्य साम्राज्य का पतन क्यों हुआ ? इसका उत्तर विद्वान ग्रन्थकर्ता ने आगे के दो अध्यायों में दिया है। अशोक के बाद कुनाल दशरथ, सम्प्रति शालिशुक, देववर्मा, शतधनुरा और बृहद्रथ ने मगध का शासन किया। इन सबका प्रामाणिक वृत्तान्त देते हुए लेखक ने यह बताने की चेष्टा की है कि किस तरह मौर्य साम्राज्य गिरता गया और किस तरह पिछले शासक राज्य के लिए लड़ने लग गये थे। यह अध्याय बहुत महत्वपूर्ण है। इसके आगे लेखक ने उन कारणों की जाँच की है, जो मौर्य साम्राज्य के पतन में कारण हुए। उनका विचार है कि भारत में केन्द्रीभाव (Centralization) और अकेन्द्री भाव (Decenralizatio1) की दो प्रवृत्तियाँ सदा से काम करती आई हैं। इन दोनों में निरन्तर संघर्ष बना रहता है। महाभारत के समय जरासंध ने बहुत से प्रजातन्त्र और राजतन्त्र राज्यों को अपने अधीन कर विशाल साम्राज्य बनाया, परन्तु जरासंध के नष्ट होते ही वह साम्राज्य टूट गया। कुरु पांचाल के राजाओं के अधीन फिर केन्द्रीभाव की प्रवृत्ति हुई, जिसका परिणाम महाभारत का युद्ध हुआ। इसी तरह ये दोनों प्रवृत्तियां चलती रही हैं। शक्तिशाली ही सम्राट भारत को एक केन्द्र के अधीन लाने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें सफलता भी होती है, पर कुछ समय बीतने पर अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियां फिर प्रबल होती हैं और साम्राज्य टूट जाते हैं। ये दोनों प्रवृत्तियां स्वाभाविक हैं, क्योंकि जहां भारत में सभ्यता, धर्म-संस्कृति और साहित्य की समानता इसे एकता की तरफ ले

जाती है, वहां भाषा, जाति, इतिहास और भौगोलिक अवस्थाओं की भिन्नता इसे विभक्त कर देती है। चन्द्रगुप्त बिन्दुसार और अशोक ने भिन्न-भिन्नविजय कर बहुत से गणतन्त्र और राजतन्त्र राज्यों को एक झण्डे के नीचे ला दिया था, कुछ समय बाद ही उन राज्यों में फिर स्वतन्त्रता के भाव ने ज़ोर किया और वे अलग हो गये। अनेक राजतन्त्र राज्य तो सदा के लिए मिल गये, परन्तु प्रजातन्त्र राज्य, जिनमें स्वाधीनता की भावना बहुत अधिक रहती है, अधिक समय तक अधीन न रह सके। महामति चाणक्य भी उन राष्ट्रों को नष्ट न कर सका और उसने उनकी सत्ता को स्वीकृत कर लिया था। पृथक् प्रजातन्त्र राज्यों की सत्ता मौर्य-साम्राज्य की सब से बड़ी कमज़ोरी थी। इस मुख्य कारण के सिवा यूनानियों के आक्रमण भी मौर्य साम्राज्य के पतन में कारण है। मौर्य राजाओं के गृह कलह के कारण वे ग्रीक राजाओं को नष्ट न कर सके। अशोक की धर्मविजय-नीति का दुरुपयोग भी होने लग गया था। शालिशुक तो बिलकुल अधार्मिक था, सम्प्रति के समय के १२ वर्ष के अकाल ने भी राज्य की व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न करदी।

अठाईसवें अध्याय में लेखक ने तत्कालीन शिक्षणालयों का वर्णन किया है। उसको यहाँ लिखने की आवश्कता नहीं, क्योंकि हिन्दी पत्रों में उसकी बहुत चर्चा हो चुकी है।

सम्पूर्ण पुस्तक अत्यन्त योग्यता और विद्वत्ता-पूर्वक लिखी गई है। हम हिन्दी भाषियों और ऐतिहासिक विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचते हैं कि वे इसे अवश्य पढ़ें। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा अन्य हिन्दी संस्थाओं से हमारा निवेदन है कि वे अपने पुरस्कार देते समय इस पुस्तक पर भी अवश्य विचार करें तथा ग्रन्थकर्त्ता का उचित सम्मान करें।

पुस्तक की छपाई में तो इण्डियन प्रेस का नाम लेना ही काफी है। पुस्तक में सात चित्र और तीन नक्शे (बौद्धकाल के सोलह महाजनपद, मौर्य साम्राज्य का विस्तार और अशोक के धर्म-विजय का क्षेत्र) दिये गये हैं, जिनसे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। पुस्तक के अन्त में घटनाओं के तिथिक्रम और शब्दानुक्रमणिका भी है। इस पुस्तक की भूमिका इतिहास के विद्वान श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखी है।

त्यागभूमि, अजमेर।

---

३ डाक्टर हीरालालजी की साहित्य-सेवा

गवर्न्मेंन्ट की सेवा में उच्च पद पर रहने वाले हिंदी-भाषा-भाषियों में ऐसे विरले ही पुरुष मिलेगें, जिन्हें सच्चा साहित्य प्रेम हो। ऐसे पुरुषों में रायबहादुर डाक्टर हीरालालजी बी० ए०, सदा अग्रणी रहे। डाक्टर हीरालालजी की साहित्य सेवा एक देशीय ही नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की रही। ये संस्कृत साहित्य के सेवी, पुरातत्त्वानुसंधान के अपूर्व प्रेमी और हिंदी-भाषा के सर्वदा हितैषी रहे।

संस्कृत साहित्य-सेवा के निमित्त हीरालालजी ने मध्यप्रदेश और बरार के अनेक हस्तलिखित पुस्तक-संग्रहों का अवलोकन कर ६,६२१ ब्राह्मण ग्रन्थ, १,२६५ जैन ग्रन्थ और कई ताड़पत्रों पर लिखे हुए कनड़ी लिपि के जैन ग्रन्थों का पता लगाया। उनमें से कई ग्रंथ तो ऐसे हैं जिनके तथा उनके ग्रंथ-कर्ताओं के नाम पहले ज्ञात न थे। आठसौ तिरसठ पृष्ठ में इन ग्रन्थों की एक बृहत् सूची बनाई गई, जिसे मध्यप्रदेश और बरार की सरकार ने ईस्वी सन् १९२६ में प्रकाशित किया। यह सूची संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं के विद्वानों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इसे देखने पर इसके संपादक के उत्कट साहित्य-प्रेम का अच्छा परिचय मिलता है।

डाक्टर हीरालालजी को इतिहास तथा पुरातत्त्व से भी अगाध प्रेम था, जिसका परिचय उन्होंने कई एक शिलालेखों और दानपत्रों के उत्तम संपादन-द्वारा दिया है। ये शिलालेख और दानपत्र नीचे लिखे वंशों व राजाओं आदि के हैं—

हैहयवंशी—राजा पृथ्वीदेव, जाजल्लदेव और यशःकर्णदेव। चदेलवंशी—परमर्दिदेव, देववर्म-देव, वीरवर्मदेव और हम्मीरवर्मदेव।

परिव्राजक—महाराज संक्षोभ और महाराज भीमसेन दूसरा। शैलवंशी—जयवर्द्धन।

चंद्रवंशी-सोमवंशी पंपराजदेव, भानुदेव और कर्णराज।

नागवंशी—मधुरांतकदेव, जयसिंहदेव, सोमेश्वरदेव, हरिश्चन्द्र, नरसिंहदेव सोमेश्वरदेव की राणी धारणदेवी और महाराजा धारावर्षकी राणीगुंड महादेवी।

पिछले गुप्तवंशियों में महाशिवगुप्त ।

राष्ट्रकूटनन्नराज ।

भंज वंशी —जैत्रभंज, विद्याधरभंज और यशः भंजदेव ।

काकतीय वंशी - दिग्पाल ।

फारुकी आदिलशाह ।

जल्लाल खोजा ।

महमूदशाह मालवी ।

महानुदेव ।

उपर्युक्त शिलालेख और ताम्रपत्र आदि जिनकी संख्या ३३ से अधिक है, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'एपिग्राफी या इंडिका' की भिन्न-भिन्न जिल्दों में प्रकाशित हुए हैं। उनके संपादन में हीरालालजी ने अक्षरांतर, सारांश और अंग्रेजी अनुवाद के अतिरिक्त जो विस्तृत विवेचन किया है, वह उनके प्रकांड ऐतिहासिक ज्ञान का प्रदर्शक है।

इसके सिवा हीरालालजी ने नागपुर, वर्धा, भंडारा, चांदा, बालाघाट, जबलपुर, सागर, दमोह, मंडला, सिवनी, होशंगाबाद, नरसिंहपुर नीमाड़, बेतूल, छिंदवाड़ा, रायपुर, बिलासपुर, दुग, अमरावती, अकोला, बुलदाना, येवतमाल जिलों तथा बस्तर, कांकेर, खैरागढ़, कवरधा, शक्ति, सारंगगढ़, सरगूंजा, चीगभक्ख और कोरिया राज्यों में से मिलने वाले २१४ शिलालेखादि का अंग्रेजी सारांश सहित एक वृहत् संग्रह भी तैयार किया है, जिनसे मौर्य, गुप्त, हूण, परिव्राजक, राजर्षितुल्य, उच्चकल्प, मौखरी, महाकौशल के पिछले गुप्त, शरभपुर के राजाओं, वाकाटकों, कलचुरियों (हैहयों), प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चौलुक्य, शैलवंशियों, चंदेलों, नागवंशियों, परमारों, यादवों, गोंडों, भोंसलों बुंदेलों आदि कई राजवंशों के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनका यह संग्रह मध्यप्रदेश व बरार की सरकार ने प्रकाशित किया है। यह हर्ष का विषय है कि उनके जीवन-काल में ही इस उपयोगी ग्रन्थ के दो संस्करण प्रकाशित होगए।

इनके अतिरिक्त 'रामटेक की यात्रा', 'चिमूर का घोड़ा' 'मुक्तगिरी और 'बुंदेलखंड की त्रिमूर्तियां' के लेख जो इंडियन ऐंटीक्वेरी में प्रकाशित हुए हैं, उनमें डाक्टर साहब का प्रकांड पांडित्य प्रतिबिंबित होता है।

रायबहादुर हीरालालजी की हिन्दी सेवा भी विद्वत् समाज में स्मरणीय है। उन्होंने पहले मध्यप्रदेश के कई जिलों के सविस्तर विवरण सहित गजेटियर हिंदी में प्रकाशित किए, जिनके नाम भिन्न-भिन्न जिलों के नामों के अनुसार 'जबलपुर ज्योति', 'मंडलामयूख', 'सागर-सरोज', 'सिवनी-सरोजनी' आदि हैं। हीरालालजी द्वारा प्रस्तुत किए गए ये गजेटियर हिंदी साहित्य में एक नई वस्तु हैं।

हीरालालजी हिंदी भाषा की अत्यंत प्रतिष्ठित संस्था काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के सहायक और माननीय सदस्य होने के अतिरिक्त उक्त सभा के सभापति भी रहे थे और सभा की ओर से होने वाले हिन्दी के संयुक्त प्रदेश से प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों के शोध संबंधी कार्य में भी आपने पूर्ण परिश्रम किया था। उन्होंने मध्यप्रदेश में बोली जानेवाली भिन्न-भिन्न भाषाओं के ग्रामोफोन के रेकार्ड भी भरवाये थे, जो न केवल कालांतर में उन बोलियों का वर्तमान रूप बतलाने में सहायक होंगे, बल्कि अन्य प्रदेश वालों के लिए भी वे इस समय में मनोरंजन का उत्तम साधन हैं। कहना न होगा कि इस प्रयत्न द्वारा माननीय डाक्टर साहब ने एक नवीन दिशा में मार्गदर्शक का कठिन कार्य संपन्न किया है। आप भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के कॉरेसपाडेंन्ट, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव ग्रेटब्रिटेन, बिहार ओरिसा रिसर्च-सोसाइटी के मेम्बर और नागपुर युनिवरसिटी के शिक्षा संबंधी बोर्ड के भी सदस्य रहे। सरकार अँग्रेजी की उन्होंने बड़ी योग्यता पूर्वक सेवा की। इन पर सरकार अँग्रेजी का पूर्ण विश्वास था, जिसके फल स्वरूप क्रमशः उन्नति करते हुए यह डिपुटी कमिश्नर के उच्च पद तक पहुंच गए थे। उनकी उत्तम सेवाओं पर प्रसन्न होकर सरकार अँग्रेजी ने उनको 'रायबहादुर' की उपाधि देकर सम्मानित किया और देहांत होने के थोड़े ही समय पूर्व नागपुर विश्वविद्यालय ने इनको 'डाक्टर' की उपाधि से भूषित किया।

डाक्टर हीरालालजी का स्वभाव सरल था और अभिमान तो इन्हें छू तक नहीं गया था। ये बड़े सच्चरित्र, कर्मवीर और मननशील पुरुष थे, तथा सदा प्रसन्न मुख रहते थे। विद्या-संबंधी कार्यों में ये सदैव आगे रहते थे और यथाशक्ति सबको सहायता देते थे। मेरा उनसे घनिष्ट संबंध रहा और उनके साथ कई बार रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। काशी, बड़ौदा और अजमेर में डाक्टर साहब से इन पंक्तियों के लेखक की भेंट हुई, वह मुझे सदा स्मरण रहेगी। ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभावाले प्रकांड विद्वान् के स्वर्गवास से पुरातत्व, इतिहास, संस्कृत और हिंदीसाहित्य की जो अकथनीय हानि हुई है, उसकी पूर्ति होना कठिन है। भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्वरूपी भवन के हीरालालजी सुदृढ़ स्तम्भ थे और मध्यप्रदेश के इतिहास की तो सजीव मूर्ति थे। इस प्रांत के संबंध में उनके जितना विशाल ज्ञान संभवतः किसी अन्य व्यक्ति को नहीं था। अंत में परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि इस कर्मठ विद्वान् की दिवंगत आत्मा को चिर शांति प्राप्त हो और उनकी प्रेरणा से भारतभूमि में भारतीय इतिहास और संस्कृत के उपासक अनेक मनस्वी नर-रत्न उत्पन्न हों।

'हैहय क्षत्रिय मित्र', प्रयाग।
भाग ३२, अंक १,
जनवरी-फरवरी १९३६
वि०सं० १९९२, पृ० १७७-८०

प्रकरण दूसरा

इतिहास और पुरातत्व

१ ग्वालियर के राजवंश की उत्पत्ति

प्राचीन काल में सारे भारत में चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—थे। बौद्धों के उत्कर्ष-काल में ब्राह्मण (वैदिक) धर्म की बहुत अवनति हुई और अनेक क्षत्रिय बौद्ध-धर्म के अनुयायी बन गए। मौर्यवंशी राजा अशोक ने बौद्ध-धर्म ग्रहण कर अपने राज्य भर में जीव-हिंसावाले यज्ञ-यागादि बंद करा दिए और बौद्ध-धर्म की बड़ी उन्नति की, जिससे ब्राह्मण (वैदिक) धर्म की नींव हिल गई। पुराणों में मौर्यवंश के पूर्व होनेवाले वंश के विषय में लिखा है—"महानंद की शूद्र जाति की स्त्री से महापद्म (नंद) उत्पन्न होगा, जो सब क्षत्रियों का नाश करेगा। उसके पश्चात् राजा शूद्र वर्ण के होंगे[1]।"

उत्तरी भारत में तो अब तक क्षत्रिय (राजपूत) वर्ण विद्यमान है और दक्षिण भारत में भी मुसलमानों से पूर्व क्षत्रिय वर्ण के राजा विद्यमान थे, ऐसा प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों एवं उस समय की लिखी हुई पुस्तकों से प्रमाणित है;[2] परन्तु मुसलमानों के प्रवेश होने के समय के आसपास से,

---

१ महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तको नृपः॥
ततःप्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः।
(मत्स्य, वायु, ब्रह्मांड आदि पुराणों में)

२ ई० स० की तीसरी शताब्दी के आसपास के जग्गयपेट (मद्रास हाता) के लेख में राजा वीरपुरिसदत्त को इक्ष्वाकुवंशी लिखा है—

पुराणों के उपर्युक्त कथन के अनुसार, ब्राह्मणों ने वहाँ (दक्षिण) के क्षत्रियों को भी शूद्र मानना आरंभ कर दिया और वहाँ केवल दो ही वर्ण अर्थात् ब्राह्मण और शूद्र माने जाने लगे।

दक्षिणी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश के नाम पर वहाँ के लोग सामान्य रूप से महाराष्ट्र या मरहठे कहलाते हैं, जैसे मारवाड़-वाले मारवाड़ी, गुजरात के गुजराती, पंजाब के पंजाबी आदि। जब दक्षिण के ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को शूद्र मान लिया, तब उपर्युक्त पुराणों के कथनानुसार उन्होंने उनकी समस्त धर्म-क्रियाओं को वैदिक रीति से नहीं, किन्तु पौराणिक पद्धति से कराना आरंभ कर दिया और वही परिपाटी उनके यजमानों के अज्ञान के कारण वहाँ चल पड़ी। कमलाकर पंडित ने 'शूद्रकमलाकर' (शूद्र-धर्म-तत्त्व) लिखकर उनकी धर्म-क्रियाओं की पौराणिक विधि भी स्थिर करदी। जब दक्षिण

"रञो (ञो) माढरिपुतस इखाकुना(णां) सिरिविरपुरिसदतस"" ... ...।

(आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव सदर्न इन्डिया; जि० १, प्लेट ६२)

बम्बई हाते के धारवाड़ जिले के गड्ग गाँव से मिले हुए पश्चिमी सोलंकी राजा विक्रमादित्य छठे के समय के (वि० सं० ११३३ और ११८३-ई० स० १०७६ से ११२६ के बीच के) शिलालेख में सोलंकियों को चंद्रवंशी लिखा है—

ओं स्वस्ति..........सोमस्यान्वये........।
..............श्रीमानस्ति चालुक्यवंशः ॥

सोलंकी राजा राज (प्रथम) के वंशज पुरुषोत्तम के शक सं० १२४० (वि० सं० १३७५=ई० स० १३१८) के लेख में सोलंकियों का चंद्रवंशी होना लिखा है—

सोमान्वये समभवद् भुवि राजराज-
देवस्सतामभिमतो नृपचक्रवर्ती.....॥

(एपिग्राफिया इन्डिका, जिल्द ५, पृ० ३६)

देवगिरि के यादव राजा महादेव (ई० स० १२६० से १२७१) तथा उसके उत्तराधिकारी रामचन्द्र (ई० स० १२७१ से १३०६) के मंत्री प्रसिद्ध विद्वान् हेमाद्रि ने अपने रचे हुए 'व्रतखंड' के अन्त की राजप्रशस्ति में इन राजाओं का चंद्रवंशी होना लिखा है।

के क्षत्रिय इस प्रकार शूद्रों में परिणित होने लगे तो उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के क्षत्रियों से उनका विवाह-संबंध छूट गया।

मरहठों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त सब शूद्र हैं, यह कथन निराधार है; क्योंकि वास्तव में देखा जाय तो महाराष्ट्रों (मरहठों) में कई क्षत्रिय-वंश अब तक विद्यमान हैं, जैसा कि उनके उपनामों से पाया जाता है, जिनके थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

मरहठा-कुल	क्षत्रिय-कुल
मोरे	मौर्य, मोरी
यादव (जाधव)	यादव
कलिचुरे	कलचुरी (हैहय)
चावरे	चावड़े (चापोत्कट)
सिंदे (शिंदे)	सिंदवंशी
प्रतिहार (पड़िहार)	पड़िहार (प्रतिहार)
चव्हाण	चौहान
तुवार	तँवर (तोमर)
चालके (सालुंखे)	सोलंकी (चौलुक्य)
शेलार (सेलार)	सिलारा-वंशी
गोरे	गौड़ (या गौर)

ये तो थोड़े से मुख्य वंशों के नाम हैं। इनकी शाखाओं से भी कई वंशों के नाम प्रसिद्धि में आए हैं। भोंसले तथा घोरपड़े मेवाड़ के सीसोदियों के वंशधर हैं, ऐसा बहमनी वंश के सुलतानों के फ़रमानों से सिद्ध हो चुका है।

प्रस्तुत लेख का विषय वर्तमान ग्वालियर-राजवंश की उत्पत्ति का निर्णय करना है। एतदर्थ सर्वप्रथम हम प्रसिद्ध इतिहास लेखकों के मत उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। अँगरेज विद्वानों में सबसे पहले मध्य भारत के इतिहास-लेखक सर जॉन माल्कम ने सन् १८२३ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ए मेमॉयर आव् सेंट्रल इंडिया' में लिखा है—

"सिंधिया वंशवाले कुंबी (कुनबी, कृषक) जाति के शूद्र हैं। सैनिक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाला उनका मूल-पुरुष राणोजी सिंधिया वाइ जिले के कुमरखेड़ा गाँव का पटेल अर्थात् मुखिया था। वह पहले पेशवा बालाजी विश्वनाथ की सेवा में प्रविष्ट हुआ तथा उसका जूता सँभालने का काम

किया करता था[1]। उक्त पेशवा के पीछे उसके पुत्र बाजीराव ने उसकी स्वामि-भक्ति से प्रसन्न होकर उसे अपने अंग-रक्षकों में नियुक्त कर लिया। आगे चलकर वह (राणोजी) प्रथम श्रेणी का मरहठा सरदार हो गया। उसका एक विवाह अपनी ही जाति (मरहठा-कुल) में और दूसरा मालवे के राजपूतों में हुआ था[2]।"

ग्रैंट डफ अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑव् दी मरहटाज" में लिखता है—'सन् १७२४ ई० के पूर्व की लड़ाइयों में से एक में प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले दो व्यक्तियों में से एक सतारा से १५ मील पूर्व के कुन्नरखेड़ गाँव का रहनेवाला राणोजी सिंधिया था। वहाँ की प्रचलित कथाओं के अनुसार सिंधिया घरानेवाले बहमनी राजवंश के समय से ही नामी सिलेदार (सैनिक अफ़सर) रहे हैं। ये अपनी उत्पत्ति राजपूतों से मानते हैं। औरंगजेब के समय में ये मंसबदार भी रहे थे और इस वंश की एक कन्या साहू[3] को ब्याही गई थी, जो दिल्ली के बंदीगृह में ही मर गई। पीछे से इस घराने की अवनति हो गई, परन्तु राणोजी ने इसकी कीर्ति पुनः अधिक बढ़ाई। वह प्रारम्भ में बालाजी विश्वनाथ तथा उसके बाद उसके पुत्र के अंग-रक्षकों में रहा[4]।"

'इंपीरियल गैजेटियर आव् इंडिया' (जिल्द १२, पृ० ४२१) तथा कैप्टेन लुअर्ड के "ग्वालियर स्टेट गैजेटियर" (जिल्द १, पृ० १५) में भी सिंधिया-वंश के मूल-पुरुष के संबंध में प्रायः ऐसा ही वर्णन मिलता है।

---

१ ग्रैंट डफ; ए हिस्ट्री ऑव् दी मरहटाज, जिल्द १, पृ० ३५८; कैप्टैन सी० ई० लुअर्ड; ग्वालियर स्टेट गेजेटियर, जिल्द १, पृ० १५ में भी ऐसा ही लिखा है तथा इंपीरियल गैजेटियर ऑव् इंडिया, जिल्द १२, पृ० ४२१; महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, खंड २०, पृ० ६२ में भी इस बात का उल्लेख है।

मुसलमानों के राज्यकाल में विष प्रयोग की आशंका बहुत बढ़ गई थी और उसके प्रयोग के नए नए ढंग कार्यान्वित होने लगे थे। अनेक में से एक ढंग जूतों के भीतर विष डाल देना भी था। इसी आशंका से रईसों, बड़े बड़े सरदारों आदि में जूतों की देख-रेख करने के लिये एक सेवक रखने की प्रथा चल निकली।

२ ग्रैंट डफ-जिल्द १, पृ० ११६-१८ (ई० स० १८३२) की आवृत्ति।

३ प्रसिद्ध शिवाजी का पौत्र और शंभाजी की मृत्यु के बाद वह (साहू, शाहू) अपनी माता यीशूबाई सहित कैद कर लिया गया था। औरंगजेब की मृत्यु हो जाने पर शाहजादे आज़म ने उसे कैद से मुक्त कर दिया था।

४ ग्रैंट डफ-जिल्द १, पृ० ३५७-५८।

'मराठी रियासत' के ख्यातनामा इतिहास-लेखक गोविंद सखाराम सरदेसाई ने लिखा है— "प्राचीन काल में सेंद्रक नाम का क्षत्रिय-वंश था। संभवतः उसी से सिंदे (सिंधिया) उपनाम की उत्पत्ति हुई होगी। इस वंश के कितने ही घरानों ने बहमनी राज्य के समय में प्रसिद्धि पाई। सतारा से ६ कोस दूर कोरे गाँव जिले में कन्हेरखेड़ नामक गाँव है, जहाँ का पटेल[1] (गाँव का मुखिया) सिंदे (सिंधिया)-वंश का था। इस घराने की लड़की अंबिकाबाई का विवाह शाहू के साथ हुआ था, जो उसके बंदी-जीवन में ही मर गई। उस (अंबिकाबाई) का पिता औरंगजेब की सेवा में था। उसी के घराने के राणोजी सिंधिया ने आगे चलकर प्रसिद्धि प्राप्त की। घर की गरीबी के कारण वह प्रथम बालाजी विश्वनाथ के अंग-रक्षकों में भर्ती हुआ। शीघ्र ही उस पर पेशवा की कृपा हुई। राणोजी सिंदे (सिंधिया), ऊदाजी पँवार और मल्हारराव होलकर बचपन में बाजीराव के साथ खेला करते थे, ऐसा कहा जाता है। निजाम आदि के साथ के युद्धों में उस (राणोजी) की निष्ठा, शौर्य इत्यादि गुणों को देखकर उसे अन्य सरदारों के साथ मालवा व हिंदुस्तान (उत्तरी) की ओर भेजा, जहाँ पराक्रम दिखलाने से उसकी शीघ्र उन्नति हुई। राणोजी बड़ा स्पष्टवक्ता था। इस विषय से संबंध रखनेवाला उसका एक पत्र मिला है। पूना के आसपास के झगड़ों में उसका प्रमुख स्थान रहा करता था, इसका प्रमाण पुरंदरे के रोजनामचे में कई स्थलों में मिलता है। सिंदे (सिंधिया)-वंश का मराठों के शाही इतिहास से घनिष्ठ संबंध है। इतना ही नहीं, किंतु यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ७५ वर्ष तक के मराठा राज्य के इतिहास के निर्माण में इस घराने का हाथ रहा। राष्ट्र निर्माण में इस घरानेवालों की दी गई प्राणाहुतियों की संख्या इनके वंश-वृक्ष में देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है[2]।"

'महाराष्ट्र ज्ञानकोष' में सिंदे (सिंधिया) वंश के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह अधिकांश में ग्रांट डफ के कथन का ही अनुवाद है[3]।

ऊपर लिखे हुए लेखकों में से मालकम का यह मत है कि सिंदे (सिंधिया) वंशवाले कुंबी (कुनबी) घराने के शूद्र हैं और उनका मूल-पुरुष राणोजी सिंधिया प्रारम्भ में कन्हेरखेड़ा गाँव का पटेल (मुखिया) था। फिर वह बालाजी विश्वनाथ और उसके बाद उसके पुत्र के समय में उनके अंगरक्षकों में रहा, एवं क्रमशः उसने उन्नति की।

---

१ राणोजी सिंदे (सिंधिया) द्वारा इस वंश का उत्कर्ष होने के पीछे भी इस वंश के राजाओं के नाम के साथ 'पटेल' शब्द लिखा जाता रहा।

२ मध्यविभाग १, पृ० ३३५-३६।

३ खंड २०, पृ० (श) ६२।

मालकम के 'शूद्र' शब्द का अर्थ यहाँ चतुर्थ वर्ण का पुरुष नहीं समझना चाहिए; क्योंकि महाराष्ट्र के ब्राह्मणों ने पीछे से दो ही वर्ण—ब्राह्मण और शूद्र—माने, जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं। ऐसी दशा में यदि उन्होंने दक्षिण के राजपूतों (क्षत्रियों) की गणना भी शूद्रों में करली, तो उनके कथन से वहाँ के राजपूत शूद्र नहीं कहे जा सकते। इसी तरह उस (मालकम) का इस वंशवालों को कुंबी (कुनबी) मानना भी कपोलकल्पना है। वही लेखक राणोजी का एक विवाह मालवे के राजपूतों के यहाँ होना लिखता है। यदि वह शूद्र और कुनबी जाति का होता तो यह संभव नहीं कि मालवा का राजपूत अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करता। राणोजी का कुंबी (कुनबी) जाति का होना अन्य किसी लेखक ने नहीं माना है। मालकम मालवा का इतिहास लिखनेवालों में सबसे पहला अँगरेज था। उस समय अधिक शोध नहीं हुआ था, इसलिये संभव है कि उसने सुनी-सुनाई कल्पित बातों पर विश्वास कर उन्हें अपने इतिहास में स्थान दिया हो।

ग्रांट डफ का कथन है कि सिंदे (सिंधिया) अपने को राजपूत घराने का मानते हैं और दंतकथाओं के अनुसार बहमनी राजवंश के समय से ही इस घराने के लोग सिलेदार (सैनिक अफसर) रहे हैं। इस घराने की एक कन्या का विवाह शाहू (साहू) के साथ हुआ था और ये औरंगजेब के मनसबदार भी रहे थे।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सिंधिया घरानेवाले शूद्र (कुनबी) नहीं हो सकते, जैसा कि मालकम ने माना है। यदि ऐसा होता तो शिवाजी के प्रसिद्ध घराने में इनकी कन्या का विवाह होना असंभव था। यह विवाह संबंध ही बतलाता है कि सिंदे (सिंधिया) वंशवाले शिवाजी के वंश के समान ही उच्च कुल के हैं।

सरदेसाई ने सिंदे नाम की उत्पत्ति प्राचीन सेंद्रक नाम के क्षत्रिय-वंश से होना अनुमान किया है और इस घराने की अंबिकाबाई नाम की कन्या का विवाह छत्रपति शिवाजी के पौत्र के साथ होना भी लिखा है।

अब हमें यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि ग्वालियर का राजवंश सिंदे क्यों कहलाया?

सरदेसाई ने सेंद्रक और सिंदे (शिंदे) नामों में कुछ समानता देखकर, सेंद्रक वंश से इसकी उत्पत्ति का अनुमान किया है, परन्तु इसके पक्ष में एक भी प्रमाण नहीं दिया। सेंद्रक वंश के जो शिलालेख और ताम्रपत्र आदि मिले हैं उनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

सेंद्रक वंश का सर्वप्रथम उल्लेख दक्षिण के चालुक्य (सोलंकी) राजा पुलकेशी द्वितीय (सन् ६०८-६४३ ई०) के मामा सेंद्रक-वंशी श्रीवल्लभसेनानंद के बिना संवत् के चिपलून (दक्षिणी

कोंकन) से मिले हुए दानपत्र में मिलता है[1]। उसी (पुलकेशी) के उत्तराधिकारी विक्रमादित्य प्रथम के राज्य के दसवें वर्ष (ई० स० ६६४) का एक दानपत्र कर्नूल जिला (मद्रास हाता) से मिला है, जिसमें उसके सेंद्रक-वंशी सामंत देवशक्ति का उल्लेख है[2]। गायकवाड़राज्यांतर्गत नवसारी जिले के बगुमरा गाँव से एक दानपत्र कलचुरी सं० ४०६ (ई० स० ६५५) का मिला है, जिसमें तीन सेंद्रक-वंशी सरदारों--भानुशक्ति, आदित्यशक्ति और निकुंभलशक्ति के नाम मिलते हैं[3]। दक्षिण के सोलंकियों का गुजरात पर अधिकार होने पर वहाँ इनको जागीरें मिली होंगी, ऐसा अनुमान होता है। मैसूर राज्य के वल गाँव से मिले हुए बिना संवत् के एक शिलालेख में चालुक्य (सोलंकी) राजा विनयादित्य (ई० स० ६८०-९७ के सामंत सेंद्रक-वंशी महाराज पोगिल्ली का नाम मिलता है[4] और उक्त लेख के ऊपर सेंद्रक-वंशियों का लांछन[5] हाथी बना हुआ है।

उपर्युक्त लेखों से स्पष्ट है कि ई० स० की सातवीं शताब्दी में सेंद्रक-वंशी दक्षिण के चालुक्यों (सोलंकियों) के सामंत थे और दक्षिणी कोंकण, मद्रास हाते के कर्नूल जिले, गुजरात के नवसारी जिले, तथा मैसूर राज्य में उनकी जागीरें थी और उनका लांछन हाथी था। इसके अतिरिक्त

---

१ ·········सेन्द्रकाणां तिलकभूतः परममाहेश्वरश्रीवल्लभसेनानन्द राजस्तेन।

(एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ३, पृ० ५१)।

२ ·········सेन्द्रकान्वयविख्यातश्रीदेवशक्तिराजविज्ञापनया·········।

(जर्नल ऑव् दी बांबे ब्रांच ऑव् दी रायल एशियाटिक सोसायटी,

जिल्द १६, पृ० २३९)।

३ ·········सेन्द्रकराज्ञामन्वये·····नरपतिः श्रीमद्भाणु(नु)शक्तिः तस्य पुत्रः ······आदित्यशक्तिः तस्य पुत्र······श्रीमा[न्] पृथ्वीवल्लभनिकुंभल्लशक्तिः········ ।

(इंडियन एंटिक्वेरी, जि० १८, पृ० २६७-६८)।

४ ··········श्रीपोगिल्लिसेंद्रकमहाराज····· ।

... ... ······ ।।

(इंडियन एंटिक्वेरी, जि० १९, पृ० १४५)

५ अलग अलग वंशों के ताम्रपत्रों, मुद्राओं शिलालेखों आदि पर कभी कभी उक्त वंश का नियत लांछन रहता है, जैसे सोलंकियों का वराह, परमारों का गरुड़, वलभी के राजाओं का नंदी आदि।

उक्त वंश की उत्पत्ति के विषय में उनमें कुछ भी लिखा नहीं मिलता[1] और न ई० स० की सातवीं शताब्दी के पीछे उनके अस्तित्व का निश्चित रूप से पता चलता है।

'सिंद' नाम का एक प्राचीन क्षत्रीय राजवंश भी था। सेंद्रक की अपेक्षा यह नाम सिंदे से अधिक मिलता-जुलता है। इस वंश की एक से अधिक शाखाएँ थी और इसका राज्य करहाट (कराड, सितारा ज़िला), बागलकोट, बादामी, केलवाडी, एहोले और पट्टडकल (पाँचों सितारा से दक्षिण पूर्व की ओर के बीजापुर जिले के अंतर्गत), नारेगल, कोडीकूप, रूण तथा सूड़ी (चारों धारवाड़ जिले में), एवं इनसे दक्षिण मैसूर राज्य के हर्रा-हर स्थानों में होना शिलालेखों से पाया जाता है। इनके अधीन का एक प्रदेश सिंदवाड़ी कहलाता था और उसकी राजधानी एरंबर्ग (यलबर्ग) निजाम राज्य में (उसकी पश्चिमी सीमा के पास) थी। इस वंश के कुछ शिलालेखों का परिचय नीचे दिया जाता है—

बंबई हाते के बीजापुर जिले के बागलकोट तालुके के भैरनमट्टी नामक स्थान से मिले हुए सोलंकी राजा जगदेकमल्ल (जयसिंह दूसरे) के समय के शक संवत् ९५५ (ई० स० १०३३-३४) के ताम्रपत्र में इसके महासामंत सिंद वंशी नागतियरस के संबंध में लिखा है कि सोलंकी राजा तैलप द्वितीय के समय शक संवत् ९११ (ई० स० ९८९) में नागवंश का भूषण श्री पुलीकाल हुआ। उसके ध्वज पर नाग का चिह्न था, एवं उसका लांछन व्याघ्र था। वह 'भोगावतीपुरपरमेश्वर'[2] कहलाता था और सिंदवंश में नारायण के समान पूज्य था। उक्त लेख में उस (पुलिनाल) के वंशवालों के नाम भी दिए हैं। आगे चलकर इसी वंश के नागादित्य के प्रसंग में भी उसका नागवंशी होना, उसके

---

१ बंबई हाते के धारवाड़ जिले के मीरज गांव से एक लेख मिला है, जिसके दूसरे हिस्से में सेंद्रकों को नागवंशी लिखा है। यह अंश सोलकी सत्याश्रय (पुलकेशी दूसरे-ई० स० ६०९-४२) के समय का बतलाया है, परंतु वह (अंश) ई० स० ९९७ में अर्थात पुलकेशी दूसरे से ३५० वर्ष पीछे—खोदा गया था। इसलिये उसकी वास्तविकता में संदेह है। यदि सेंद्रक नागवंशी होते तो उनका चिह्न नाग का होना चाहिए था, न कि हाथी का, जैसा कि बलगांवे (मैसूर राज्य) के लेख के ऊपर खुदा है।

२ भोगावती नागवंशियों की मूल राजधानी थी, जो पाताल में मानी गई है। जैसे चौहानों की मूल राजधानी शाकंभरी (सांभर) होने से अब तक तमाम चौहान राजा शाकंभरीश्वर (संभरीराव) कहलाते हैं वैसे ही नागवंशी, अपनी मूल राजधानी के नाम पर, 'भोगावतीपुरपरमेश्वर' कहलाते थे।

ध्वजपर सर्पों–अनंत, वासुकी तथा तक्षक– के चिह्न होना और उसका लांछन व्याघ्र होना लिखा है।[1] और वह भी भोगावतीपुरवरेश्वर कहलाता था।

बंबई हाते के बीजापुर जिले के टिडगुंडी नामक स्थान से प्राप्त सोलंकी विक्रमादित्य छठे के राज्य-वर्ष सातवें (ई० स० १०८२) के ताम्रपत्र में उसके महामंडलेश्वर (सामंत) सिंदवंशी मुंजराज के प्रसंग में लिखा है कि उसका विरुद भोगावतीपुरपरमेश्वर था और वह 'नागवंशी' था[2]।

मैसूर राज्य के हरिहर नामक स्थान से मिले हुए हैहयवंशी बिज्जल के समय के, ई० स० ११६५ के, लेख में सिंदवंशी ईश्वर का उल्लेख है, जिसके मूल पुरुष के संबंध में लिखा है कि उसने करहाट (कराड; बंबई हाते के सतारा जिले में) के स्वामी को निकाल कर वहां अपना राज्य स्थापित किया। फिर ईश्वर तक होने वाले उसके वंशजों की नामवली दी हुई है[3]। इस वंशवाले 'करहाट-पुरवराधीश्वर' खिताब रखते थे और उनके ध्वज पर नील नामक सर्प का चिह्न रहता था।

उपर्युक्त लेखों से यह स्पष्ट है कि सिंद वंश वाले नागवंशी थे और उनका राज्य सतारा तथा उसके आसपास के जिलों पर भी था। 'सेंद्रक' की अपेक्षा यह नाम सिंदे (शिंदे) से अधिक मिलता-जुलता है। सेंद्रक-वंशीयों के किसी लेख में उनके ध्वज पर नाग का चिह्न होना लिखा नहीं मिलता। अतएव ग्वालियर-राजवंश का अर्वाचीन नाम "सिंदे" सिंद का परिवर्तित रूप होना चाहिए। कन्हरखेड़ा (कन्हेरखेड़ा) गाँव, जहाँ प्रारंभ में इस (शिंदे) वंश का मूल पुरुष (राणोजी) पटेल (मुखिया) रहता था सतारा से १६ मिल पूर्व में है और उस जिले तथा उसके आसपास के प्रदेश में प्राचीन काल में सिंद-वंशियों का अधिकार होना शिलालेख आदि से ऊपर बतलाया जा चुका है। अतएव हम कह सकते हैं कि राणोजी सिंदे उन्हीं (सिंद वंशियों) का वंशधर रहा होगा।

---

१ नागवंशोद्भवनागध्वजप्रतापविजयपल्लि घोषणव्याघ्रलांछनभोगावतीपुर परमेश्वर ····सिन्दनारायण ·······श्रीपुलिकाल·······भोगावतीपुरवरेश्वर अनन्तवासुगीतक्षकफणिपताकेश्वरव्याघ्रलांछन ····सिन्दकुलतिलकश्रीनागादित्य।

(एपिग्राफिया इन्डिका, जिल्द ३, पृ० २३२-३४)।

२ भोगावतीपुरपरमेश्वरफणीन्द्रवंशोद्भवनागकुलतिलकसिन्दकुलकमलमार्तंड ·······श्रीमुंजराजदेवस्य ·········।

(एपिग्राफ़िया इन्डिका, जिल्द ३, पृ० ३०८-०६)।

३ लेविस राइस, मैसूर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ६०

जोधपुर के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कविराजा बाँकीदास (ई० स० १७८१-१८३३) ने अपने 'ऐतिहासिक बातों के संग्रह' संख्या १६७६ में लिखा है—"सिंधिया (सिंदे) का वंश 'नागवंश' कहलाता है और उनकी ध्वजा पर सर्प का चिह्न रहता है।" अब तक ग्वालियर राज्य के झंडे[1], राज्यचिह्न[2] एवं डाकखाने के टिकटों तक पर नाग का चिह्न वर्तमान है, जिससे सिद्ध है कि ये नागवंशी हैं और उस वंश की सिंद-शाखा के प्रतिनिधि होने से 'सिंदे' कहलाते हैं।

क्षत्रिय नागवंश प्राचीन काल में बड़ा ही प्रभुत्वशाली था। इस वंश का अस्तित्व महाभारत युद्ध के पहले से पाया जाता है और महाभारत के समय अनेक नागवंशी राजा विद्यमान थे। तक्षक नाग के द्वारा परीक्षित का काटा जाना और जनमेजय का सर्पसत्र में हज़ारों नागों की आहुति देना यदि रूपक माना लिया जाय तो यही आशय निकलेगा कि परीक्षित नागवंशी तक्षक के हाथ से मारा गया, जिससे उसके पुत्र ने अपने पिता के वैर में हज़ारों नागवंशियों को मारा। इनके अतिरिक्त कर्कोटक, धनंजय, मणिनाग, अनंत, तक्षक, वासुकि, नील आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजाओं के नाम प्राचीन पुस्तकों में मिलते हैं। यह वंश भारतवर्ष के बड़े हिस्से में फैला हुआ था। विष्णुपुराण में ६ नागवंशी राजाओं का पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य), कांतिपुरी और मथुरा में राज्य करना लिखा है[3]। वायु और ब्रह्मांड पुराण नागवंशी नव राजाओं का चंपापुरी में और सात मथुरा में होना बतलाते हैं[4]। पद्मावती के नागवंशियों के सिक्के भी मालवे में कई जगह पर मिले हैं। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में जहाँ कई राजाओं के भिन्न भिन्न प्रकार से मारे जाने का उल्लेख किया है वहाँ नागवंशी राजा नागसेन का, सारिका (मैना) द्वारा गुप्त भेद प्रकट हो जाने के कारण, मारा जाना माना है[5]। कई नागकन्याओं के विवाह क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के साथ होने के उल्लेख भी मिलते हैं।

---

१ सी० ई० लुअर्ड; ग्वालियर स्टेट गैजेटियर, जिल्द १, भाग ४, प्लेट ११०।

२ वही, जिल्द १, भाग ४, प्लेट १११।

३ नवनागाः पद्मावत्यां कांतीपुर्यां मथुरायां ...

'विष्णुपुराण', अंश ४, अध्याय २४।

४ नवनागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै॥

'वायुपुराण', ६६।३८२ और 'ब्रह्मांड पुराण'; ३।७४।१६४।

५ नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्यासीन्नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्।
(हर्ष-चरित', उच्छ्वास ६, पृ०१६८)।

मालवे के परमार राजा भोज के पिता सिंधुराज का विवाह नागवंश की राजकन्या शशिप्रभा के साथ हुआ था[१]। नागवंशियों की अनेक शाखाएँ भी थीं; टांक या टाक शाखा के राजाओं का छोटा सा राज्य वि०सं० की १४ वीं और १५ वीं शताब्दी तक यमुना के तट पर काष्ठा या काठा नगर में था[२]।

मध्यप्रदेश के चक्रकोट्य में वि० सं० की ११ वीं से १४ वीं और कवर्धा में १० वीं से १४ वीं शताब्दी तक नागवंशियों का अधिकार रहा[३]। सिंद नामक पुरुष से चली हुई नाग-वंश की सिंद शाखा का राज्य दक्षिण में कई जगह होना ऊपर बतलाया जा चुका है। येलबुर्ग (निजाम राज्य) सिंदवंशियों का राज्य वि० सं १० वीं से १३ वीं शताब्दी तक विद्यमान था[४]। राजपूताने में भी नागवंशियों का कुछ न कुछ अधिकार पुराने समय से होना पाया जाता है। 'नागोर' (नागपुर, जोधपुरा राज्य), जिसको अहिच्छत्रपुर भी कहते थे, नागों का वहाँ अधिकार होना प्रकट करता है। कोटा राज्य में शेरगढ़ कस्बे के दरवाजे के पास एक शिलालेख वि०सं० ८४७ (ई० स० ७९०) माघ सुदि ६ का लगा हुआ है[५], जिसमें नागवंशियों के चार नाम बिंदुनाग, पद्मनाग, सर्वनाग और देवदत्त मिलते हैं।

इन्हीं नागवंशियों की उपर्युक्त सिंद-शाखा से आजकल का ग्वालियर राजवंश निकला है। इस वंशवाले न तो कुनबी हैं और न शूद्र; किंतु शुद्ध क्षत्रियवंशी (नागवंशी) हैं, जैसा कि उक्त वंश की सिंद शाखावालों के शिलालेखों से स्पष्ट है।

ना: प्र० पत्रिका (न० सं०) काशी,
भाग १७।

---

१ इन्डियन एँटिक्वेरी, जिल्द ३६, पृ० १५५।

२ हिंदी टॉड राजस्थान, प्रथम खंड, पृ०४३४।

३ हीरालाल रायबहादुर; 'डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑव इन्स्क्रिपशन्स इन दी सेंट्रल प्राविंसीज एन्ड बरार', पृ० १९४-९५।

४ हिंदी टॉड राजस्थान, प्रथम खंड, पृ० ४६२-६४।

५ इंडियन एँटिक्वेरी, जिल्द १४, पृ० ४५।

२ वीर राठोड़ जयमल

वैसे तो राजपूताने के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ ही गौरव और वीरता का उदाहरण है, परन्तु उसमें आदर्श और अनुकरणीय वीरता के जो बहुत उत्कृष्ट और थोड़े से उदाहरण मिलते हैं, उसमें वीर राठोड़ जयमल का एक विशेष स्थान है। जयमल का दादा दूदा जोधपुर के राव जोधा का पुत्र था। उसने अजमेर के मुसलमान शासक से युद्ध कर मेड़ता लेलिया और वहां अपनी स्वतंत्र राजधानी स्थापित की। इसी मेड़ता के कारण ही दूदावत शाखा मेड़तिया कहलाई। दूदा का पुत्र वीरमदेव भी बहुत वीर और योग्य था। उसके समय जोधपुर के राव मालदेव ने उससे मेड़ता छीन लिया। वीरमदेव ने उसको लेने के कई प्रयत्न किये, वह सफल भी हुआ, परंतु फिर मालदेव ने मेड़ता छीन लिया। जब शेरशाह सूर ने मालदेव पर चढ़ाई की; वह (मालदेव) बिना लड़े ही भाग गया। तब शेरशाह ने मेड़ते पर वीरमदेव का अधिकार पुनः करा दिया।

जयमल का जन्म वि० सं० १५६४ आश्विन सुदि ८ को हुआ था। कुंवरपने में ही अपने पिता वीरमदेव के साथ उसने अनेक युद्धों में भाग लिया था। इसका उसके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह बहुत वीर, कष्ट-सहिष्णु और निर्भिक था। पिता की मृत्यु होने पर वह वि० सं० १६०० फाल्गुन में मेड़ता की गद्दी पर बैठा।

जयमल के गद्दी पर बैठने के समय तक मेड़ते का शत्रु राव मालदेव शेरशाह से परास्त होने के कारण बहुत निर्बल होगया था। वि० सं० १६०२ में शेरशाह के मरने पर उसका कमजोर पुत्र सलीमशाह गद्दी पर बैठा। उसकी कमजोरी का फायदा उठा कर मालदेव ने फिर जोधपुर का राज्य प्राप्त कर लिया।

राव मालदेव ने फिर मेड़ते पर अधिकार करने के लिए जयमल पर वि०सं० १६०३ में आक्रमण कर दिया। जयमल ने बीकानेर की सेना की सहायता लेकर उसका मुक़ाबला किया। मालदेव परास्त होकर भागा। इस अवसर पर राव मालदेव का नगारा और निशान आदि राज्य-चिन्ह भी जयमल के हाथ लगे, परन्तु उसने यह विचार कर उन्हें मालदेव के पास भेज दिया कि वह मेरा ही

भाई है। उसका अपमान करने में मेरा ही अपमान है। 'चतुरकुल चरित्र' से पाया जाता है कि नगारा निशान आदि लेकर जो व्यक्ति मालदेव के पास जारहा था, उसने मार्ग में सोचा कि इसे एक बार बजा कर तो देखूं। यह सोच कर उसने एक बार नगारा बजाया। उस समय मालदेव भी उसके समीप ही एक गांव में ठहरा हुआ था। वह नगारे कि आवाज सुन कर इस ख्याल से बहुत डर गया कि जयमल यहां भी आ पहुँचा है और जोधपुर को प्रस्थान कर दिया। इस पराजय के बाद मालदेव को कई वर्षों तक मेड़ते पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। इस समय जयमल ने बाहरी युद्ध न होने के कारण राज्य के सुधार की तरफ ध्यान दिया।

वि० सं० १६१० माघ में सलीमशाह के मरजाने का समाचार सुनकर राव मालदेव ने ठाकुर पृथ्वीराज जैतावत को अजमेर पर अधिकार करने के लिए भेजा। इधर महाराणा ने भी उसे लेने के लिए प्रस्थान किया। बीकानेर के राव कल्याणमल और जयमल भी उसकी सहायता के लिए उसके साथ होगये। पृथ्वीराज तीनों को सम्मिलित देखकर लौट गया और अजमेर पर महाराणा का अधिकार होगया। इसी सम्मिलित सैन्य की सहायता से महाराणा ने नागौर पर भी अधिकार कर लिया।

राव मालदेव महाराणा को सहायता देने के कारण जयमल पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और वि० सं० १६११ वैशाख में बड़ी भारी सेना लेकर जयमल पर चढ़ाई कर दी। इस आकस्मिक आक्रमण के कारण यद्यपि चित्तौड़ और बीकानेर की सहायता नहीं पाई जा सकी, तथापि जयमल ने अकेले ही सामना करना निश्चय कर वीरता पूर्वक सामना किया। राव मालदेव के ठाकुर पृथ्वीराज तथा दूसरे बहुत से सरदार इस युद्ध में मारे गये। मालदेव परास्त होकर जोधपुर की तरफ चला गया।

मारवाड़ की ख्यात में इस लड़ाई का कारण यह लिखा है कि राव मालदेव ने जयमल को अपनी सेवा में आने के लिए कहा; परंतु उसने न माना, जिस पर क्रुद्ध होकर राव मालदेव ने उस पर चढ़ाई की।

कुछ ही समय के बाद पृथ्वीराज की मृत्यु का बदला लेने के लिए उसका छोटा भाई देवीदास, राव मालदेव के छोटे पुत्र चन्द्रसेन को लेकर मेड़ते पर चढ़ा। इस आकस्मिक युद्ध के समय भी जयमल कोई सहायता प्राप्त न कर सका। उसने अकेले ही आगे जाकर वि० सं० १६११ आषाढ़ वदि १३ को देवीदास से युद्ध किया। देवीदास की सेना बहुत थी, इसलिए जयमल पराजित होकर मेड़ते चला आया और वहां दुर्ग की रक्षा करने लगा देवीदास ने क़िले को आ घेरा और एक मास तक घेरा डाले रहा। यह समाचार सुनकर महाराणा उदयसिंह, जो विवाह के लिए बीकानेर जा रहा था, मेड़ते में आया और वहाँ राव जयमल को समझाया कि इस समय मेड़ता छोड़ दो और फिर

मैं शीघ्र ही तुम्हारा यहाँ अधिकार कराढूंगा। तब से जयमल महाराणा के पास चला गया और मेड़ता पर राव मालदेव का अधिकार होगया। महाराणा ने बदनोर को बड़ी जागीर २०० गावों सहित दी।

हाजीखां पठान शेरशाह सूर का एक प्रबल सेनापति था। अकबर के गद्दी पर बैठने के समय उसका मेवात पर अधिकार था। अकबर ने उसे वहाँ से निकालने के लिए पीर मुहम्मद सरवानी को भेजा। वि०सं० १६१३ में हाजीखां पठान भागकर अजमेर आया और वहाँ के क़िलेदार को निकाल कर उस पर अधिकार कर लिया। यह समाचार सुनकर राव मालदेव ने अजमेर लेने के लिये इधर प्रस्थान किया। हाजीखां ने यह देखकर महाराणा को सहायता के लिए बुलाया। महाराणा का आना देखकर मालदेव लौट गया। तदुपरांत शीघ्र ही महाराणा ने मेड़ता पर अधिकार कर जयमल को दे दिया। महाराणा ने हाजीखां पठान से बहुतसा धन और रंगराय वेश्या मांगी। उसने धन तो स्वीकार किया, परंतु वेश्या देने से इन्कार कर दिया। इस पर महाराणा ने जयमल और कल्याणमल आदि को साथ लेकर उस पर चढ़ाई करदी। तब हाजीखां ने मालदेव से सहायता मांगी। वह तो महाराणा को नीचा दिखाने के लिए तैयार ही था। उसने अपने सरदारों के साथ सेना भेज दी और स्वयं मेड़ता लेने के लिए जैतारण ठहर गया। वि०सं० १६१३ फाल्गुन वदि ६ को महाराणा और हाजीखां में परस्पर युद्ध हुआ, जिसमें महाराणा पराजित हुआ। इस पराजय का समाचार सुनते ही मालदेव ने मेड़ता पर फिर अधिकार कर लिया। उसने वहाँ केवल चतुर्भुज के मंदिर को छोड़कर जयमल के बनवाये हुए सब भवनों को गिरवा दिया और मालकोट नामी दुर्ग बनवाया। जयमल का तीसरा भाई जगमल किसी कारण उससे अप्रसन्न होकर मालदेव के पास चला गया, उसने उसे आधा मेड़ता देकर उसका नाम 'नयानगर' रक्खा।

जयमल को महाराणा ने बदनोर की जागीर फिर देदी थी, जहाँ से वह मारवाड़ के इलाक़े को कभी-कभी लूटा करता था। इसी वर्ष बादशाह अकबर अजमेर आ रहा था। यह सुनकर जयमल ने महाराणा की सम्मति से डीडवाना में उससे मिलने के लिए प्रस्थान किया। उससे मिलकर जयमल ने उसकी अधीनता स्वीकार की और मेड़ता दिलाने के लिए प्रार्थना की। अकबर ने मिर्ज़ा शर्फुद्दीन हुसैन को सेना देकर जयमल के साथ भेजा। दोनों ने मिलकर मेड़ता पर चढ़ाई की। जगमल और देवीदास ने तीन दिन तक वीरता पूर्वक मुक़ाबिला किया। अंत में राव मालदेव के लिखने से उन्होंने संधी करली और सब सामान वहीं छोड़कर बाहर जाना स्वीकार कर लिया। जगमल तो बाहर चला गया; परंतु देवीदास क़िले का सामान जलाकर बाहर निकला। यह देखकर जयमल ने सोचा कि देवीदास फिर भी नुक्सान पहुंचावेगा और उसका पीछा किया। देवीदास ने भी मुक़ाबला किया, परंतु अंत में मारा गया। वि० सं० १६१६ चैत्रसुदि १५ को मेड़ते पर जयमल का अधिकार होगया।

वहां से वह मिर्ज़ा के साथ नागोर गया और वहां भी राव मालदेव का अधिकार नष्ट कर अधिकार कर लिया। मालदेव ने यह सुनकर नागोर को प्रस्थान किया और वहाँ आकर जयमल से युद्ध किया, परन्तु पराजित होकर वापस लौट गया। इस अंतिम पराजय के कुछ समय बाद मालदेव का देहांत होगया और चन्द्रसेन जोधपुर की गद्दी पर बैठा।

इतने से ही जयमल की विपत्तियां शान्त नहीं होगई। वि० सं० १६२० आश्विन में अजमेर का सूबेदार मिर्ज़ा शर्फुद्दीन हुसैन, जो जयमल के साथ ऊपर लिखी लड़ाइयों में रहा था, स्वतन्त्र होगया। अकबर को यह संदेह उत्पन्न हुआ कि जयमल का भी इसमें जरूर हाथ है। इसलिए उसने हुसेनकुलीखां को मिर्ज़ा को दंड देने और जयमल से मेड़ता और नागोर लेने के लिए भेजा। जयमल ने इस अवसर पर यह सोचकर युद्ध करना उचित न समझा कि इससे बादशाह का मेरे ऊपर संदेह और भी बढ़ जायगा। यह सोचकर जयमल स्वयं मेड़ता हुसेनकुलीखाँ को सुपुर्द कर चित्तौड़ चला गया। इसके बाद से फिर मेड़ता जयमल के हाथ कभी नहीं आया।

अल्बदायूनी के लिखने से पाया जाता है कि मिर्ज़ा शर्फुद्दीन ने अकबर की आज्ञा से मेड़ते पर आक्रमण किया था। संधि होने पर जगमल ने तो किला छोड़ दिया, परन्तु देवीदास ने संधि के विरुद्ध क़िले का सामान जला डाला और अपने ५०० राजपूतों के साथ लड़कर मारा गया, इसी समय से जयमल के हाथ से मेड़ता चला गया।

महाराणा ने उसे तीसरी बार बदनोर की जागीर दी[1], जो अब तक उसके वंश में चली आती है। उन्हीं दिनों महाराणा उदयपुर बसाने में लगा हुआ था, इसलिए वह अधिकतर वहीं रहा करता था और जयमल चित्तौड़ में रहता था। वहाँ महाराणा ने उसके लिए महल भी बनवा दिये, जो आज तक जयमल के महल कहलाते हैं।

वि० सं० १६२४ आश्विन में बादशाह अकबर ने चित्तौड़ के क़िले को जीतने के लिए उधर प्रस्थान किया और मालवे की चढ़ाई की व्यवस्था कर अकबर स्वयं सेना के साथ चित्तौड़ की ओर बढ़ा और मार्गशीर्ष में क़िले के पास पहुँच कर डेरा डाला।

महाराणा ने भी अकबर के इधर प्रस्थान करने का समाचार सुनकर तैयारियां प्रारम्भ कर दी थी। सब सरदारों ने महाराणा को सलाह दी कि गुजराती सुल्तान से लड़ते-लड़ते मेवाड़ निर्बल हो

---

1 वि० सं० १६२३ (ई० स० १५६६) की लिखी हुई एक जैन पुस्तक की प्रशस्ति में उक्त पुस्तक कोठारिया गाँव (मेवाड़) में वीर जयमल के समय लिखे जाने का उल्लेख है। इससे पाया जाता है कि महाराणा उदयसिंह की तरफ से जयमल को बधनोर के अतिरिक्त कोठारिया भी जागीर में मिला होगा। (सं० टि०)

गया है और अकबर बड़ा बहादुर है। इसलिए आपको सपरिवार पहाड़ों की तरफ़ चला जाना चाहिये। इस सलाह के अनुसार महाराणा जयमल और सीसोदिया फत्ता को सेनाध्यक्ष नियत कर कुछ सरदारों सहित पहाड़ों में चला गया।

अकबर ने क़िले तक सुरंगें लगाने और साबात बनाने की आज्ञा दी और जगह-जगह पर मोर्चे रख कर तोपखाने से उसकी रक्षा का प्रबंध किया, परंतु क़िले के राजपूतों ने सुरंगें खोदने वालों और साबात बनाने वालों को नष्ट करना प्रारंभ किया। बादशाह ने सुरंग और साबात बनाने वालों को जी खोलकर रुपया दिया। दो सुरंगे क़िले की तलहटी तक पहुँचाई गई एक में १२० मन और दूसरी में ८० मन बारूद भरीगई। पहली सुरंग उड़ाने से केवल ५० राजपूत मरे परंतु दूसरी के स्वयं फूट जाने से २०० शाही सैनिक मारे गये। तीसरी सुरंग उड़ाने से ३० राजपूत मरे। एक दिन अकबर ने देखा कि एक राजपूत (जयमल) दीवार की मरम्मत कराने के लिए इधर-उधर घूम रहा है, उस पर उसने अपनी संग्राम नामक बंदूक से गोली चलाई, जिससे वह घायल होगया। अबुलफ़ज़ल ने इस गोली से उसका मारा जाना लिखा है, परंतु यह ठीक नहीं है।

बहुत समय के बाद क़िले की भोजन सामग्री समाप्त होने पर जयमल ने सब सरदारों को बुला कर कहा कि अब जौहर कर क़िले के दरवाज़े खोल देने चाहिये और सब राजपूतों को वीरता पूर्वक युद्ध कर वीर गति को पहुँचना चाहिये। यह सलाह सब ने पसंद की और अपनी-अपनी स्त्रियों तथा बच्चों को जौहर करने की आज्ञा देदी। सब राजपूत रमणियां चिता में जल कर भस्म होगई।

दूसरे दिन सवेरे राजपूतों ने दरवाज़े खोल कर युद्ध किया। वीर जयमल घायल होने के कारण घोड़े पर चढ़ नहीं सकता था, परन्तु उसकी लड़ने की इच्छा और उत्साह में कोई कमी नहीं थी। उसके कुटुंबी कल्ला ने उसे अपने कंधे पर बिठाकर कहा कि अब आप लड़ने की इच्छा पूरी कर लीजिये। फिर वे दोनो हाथ में तलवारें लेकर लड़ने के लिए चले और वीरता पूर्वक लड़ते हुए हनुमान पोल तथा भैरवपोल के बीच में काम आये। इस तरह वीर जयमल का वीर जीवन समाप्त हुआ। सीसोदिया फत्ता भी इस युद्ध में वीर गति को प्राप्त हुआ। अन्त में अकबर विजयी हुआ और उसने क़िले पर अधिकार कर लिया। जयमल और फत्ता की वीरता पर अकबर इतना मुग्ध हुआ कि उसने आगरे जाने पर हाथी पर चढ़े हुए जयमल और फत्ता की पाषाण की मूर्तियां बनवाई। यह मूर्तियाँ वि० सं० १७२० तक तो विद्यमान थी; क्योंकि फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने इन्हें देखा था। पीछे से सम्भवतः औरंगज़ेब ने इन्हें धर्म द्वेष के कारण तुड़वा दिया हो।

(महारथी- राजपूत अंक, अक्टोबर १९२८ ई०)

३ वीरवर पत्ता (फत्ता)

महाराणा लाखा के वीर पुत्र सत्यव्रती चूंडा ने अपने पिता के केवल हास्य पर ही स्वयं राज्य छोड़ने की प्रतिज्ञा की और अपने छोटे भाई मोकल को राज्य देकर अपनी प्रतिज्ञा जिस रीतिसे निभायी, उससे मेवाड़ के इतिहास में चूंडा और उसके वंशजों का एक विशेष स्थान होगया है। वीर पत्ता (फत्ता) इसी चूंडा के पुत्र कांधल का प्रपौत्र था[1]।

अकबर के चित्तौड़ विजय के प्रसिद्ध युद्ध में राजपूतों की सेनाध्यक्षता जयमल के साथ पत्ता ने भी की। वह भी जयमल की तरह वीरता से युद्ध में लड़ा। युद्ध के अंतिम दिन पत्ता ने बड़ी बहादुरी दिखाई। अन्त में उसे एक हाथी ने सूंड से पकड़ कर पटक दिया, जिससे सूरजपोल[2] के भीतर मर गया। अकबर उसकी भी वीरता पर मुग्ध हुआ और उसकी हाथी पर चढ़ी हुई पत्थर की मूर्ति बनवा कर जयमल के साथ आगरे के क़िले के दरवाजे पर रखवाई।

(महारथी–राजपूत अंक, अक्तूबर १६२८ ईस्वी)।

---

1 रावत पत्ता (फत्ता) के पिता का नाम जग्गा था, जो महाराणा उदयसिंह के समय डूँगरपुर के रावल आसकरण पर कुंवर प्रतापसिंह की अध्यक्षता में वि० सं० १६११ (ई०स० १५५४) में चढ़ाई होने पर सोम नदी के तट पर बागड़ के चहुवानो से लड़ता हुआ मारा गया। जहाँ उसकी अब भी स्मारक छत्री बनी हुई है। (सं० टि०)।

2 वीर फत्ता का स्मारक चित्तौड़ दुर्ग के पश्चिमी ऊपर के सबसे पहला रामपोल द्वार के भीतर बना हुआ है, जिससे पाया जाता है कि वह रामपोल द्वार के पास ही शाही सेना से लड़ता हुआ मारा गया, न कि सूरजपोल द्वार पर। सूरजपोल द्वार पर तो रावत साईदास (सलूम्बर का) शाही सेना से लड़ता हुआ मारा गया, जिसका स्मारक वहाँ बना हुआ है (सं० टि०)।

४ कछवाहों के इतिहास में एक उलझन

मुसलमानों में पुराने समय से ही इतिहास लिखने की जैसी प्रवृत्ति रही, वैसी हिंदुओं में नहीं रही। मुसलमानों के लिखे हुए अरबी और फ़ारसी के सैंकड़ों इतिहास मिलते हैं, जिनमें जहाँ मुसलमानों के राज्य रहे, वहाँ का सविस्तर वृत्तांत है। जब से हिंदोस्तान में मुसलमानों का राज्य हुआ, तब से लगाकर मुगलों के राज्य के अंत तक का एवं गुजरात, मालवा, बंगाल, काश्मीर, दक्षिण आदि के समस्त मुसलमानी राज्यों का सविस्तर इतिहास विद्यमान है। इतना ही नहीं, किन्तु मुगलों के समय के तमाम बड़े-बड़े अफ़सरों तथा ग्रंथ कर्ताओं के जीवन चरित्र तक लिखे मिलते हैं। हिंदोस्तान से संबंध रखने वाले मुसलमानों के इतिहास यद्यपि धर्म-द्वेष तथा जाति-द्वेष से खाली नहीं है, और उनमें जहाँ-जहाँ हिंदुओं के महत्त्व की बातें बहुत घटा कर एवं मुसलमानों की बढ़ा कर लिखी हैं, तथा जहाँ कहीं मुसलमानों की हिंदुओं से हार हुई, उसको या तो वे बिल्कुल छोड़ गए हैं, या उसे कुछ और ही रूप में लिखा है, तथापि ये इतिहास भी कम महत्त्व के नहीं है; क्योंकि हिन्दुओं से संबंध रखनेवाली कई घटनाओं के निश्चित् संवत् एवं बहुत कुछ वृत्तांत आदि उनमें मिल जाते हैं।

हिंदुओं का दृष्टि-कोण सदा से निवृत्ति-मार्ग की तरफ रहने के कारण उन्होंने प्राचीनकाल से ही वास्तविक इतिहास की ओर ध्यान नहीं दिया और मनुष्यों के चरित्र अंकित करने की अपेक्षा ईश्वर के अवतारों या देवी-देवतों के वर्णन करने में ही अपनी लेखनी को कृतार्थ समझा। इसी से हमारे यहाँ के अनेक राजों, धनाढ्यों, महाराजों, विद्वानों, वीरपुरुषों आदि के केवल चरित्र ही नहीं मिलते, वरन् उनका निश्चित् समय भी अज्ञात है। यह तो प्राचीन इतिहास की दशा है। परंतु मुगलों के समय के भी हिंदुओं के लिखे हुए हिंदु-राजों, सरदारों आदि के इतिहास नहीं मिलते।

राजपूताना भारत के इतिहास का केन्द्र रहा, और वहाँ के राजों वीर पुरुषों आदि ने बड़े-बड़े वीर कार्य किये, जिनका वास्तविक वृत्तांत भी हमारे यहाँ नहीं है। मुसलमानों के समय के राजपूताने के इतिहास में भी कई ऐसी उलझनें विद्यमान है, जिनका सुलझाना सहज नहीं, ऐसी उलझनों

में से एक को हम आज हिंदी-पाठकों के सामने रखते हैं। इस उलझन का संबंध कछवाहा-वंश के राजा भगवानदास, भगवंतदास, मानसिंह और माधवसिंह से है।

कछवाहों का मूल-राज्य ग्वालियर में था, जहाँ की एक छोटी शाखा विक्रम की १२ वीं शताब्दी में राजपूताने में आई, और समय के हेर-फेर से कभी स्वतंत्र और कभी परतंत्र रही। अकबर के समय के पहले तक राजपूताने में कछवाहों का राज्य सामान्य स्थिति में रहा। राजपूताने के राजों में पहले-पहल कछवाहा राजा भारमल ने बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार की, तब से प्रति दिन इस वंश का उदय होता रहा और राजा भारमल, भगवानदास, मानसिंह, जयसिंह (मिर्ज़ा राजा) और जयसिंह द्वितीय (सवाई) आदि ने मुगलों का राज्य बढ़ाने और उसकी रक्षा करने के लिये जो-जो वीरता के काम किए, वे मुसलमानों के इतिहास में भी अंकित हैं। ऐसे वंश का भी वास्तविक लिखित इतिहास हमारे यहाँ नहीं है और राजा भगवानदास, भगवंतदास, मानसिंह और माधवसिंह का परस्पर संबंध भी अनिश्चित है, जिसका निश्चय करना भी आवश्यक है। इस विषय में भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न बातें लिखी हैं, जिन्हें नीचे उद्धृत कर उन पर विचार किया जाता है—

बादशाह अकबर के समकालीन मुसलमान इतिहास लेखकों में मुख्य चार हैं। उनमें सब से प्रथम स्थान पाने योग्य ख्वाजा निज़ामुद्दीन अहमद है जो अकबर के समय में कई पदों पर नियुक्त रहा था और जिसकी मृत्यु अकबर के जीवन काल में ता० २३ सफर, सन् १००३ हिजरी वि० सं० १६५१ कार्तिक-वदि १०) को हुई थी। उसने 'तबक़ात-इ-अकबरी,' जिसको

समकालीन मुसलमान लेखक

'तारीख़-निज़ामी' भी कहते हैं, लिखी है। उक्त इतिहास-लेखक का इतिहासज्ञ विद्वानों में बड़ा सम्मान है और अलबदायूनी, फ़िरिश्ता आदि इतिहास-लेखकों ने उसके ग्रंथ से अपनी पुस्तकों में बहुत कुछ सहायता ली है। अबुलफ़ज़ल के और उसके लेख में कई स्थानों पर परस्पर विरोध है। परंतु अबुल-फ़ज़ल के कथन की अपेक्षा निज़ामी का कथन अधिक विश्वसनीय कहा जा सकता है। उसने सर्व-प्रथम अकबर की सेवा स्वीकार करने वाले आंबेर के राजा का नाम बिहारीमल[1] (भारमल), उसके

---

[1] फ़ारसी-वर्णमाला की अपूर्णता के कारण उसमें लिखे हुए स्थानों तथा पुरुषों के नाम बहुधा शुद्ध नहीं पढ़े जाते। फ़ारसी-तवारीखों में भारमल का नाम बिहारमल या पहाड़मल पढ़ा जाता है। इसी से अँगरेज़ अनुवादकों ने उसका उन्हीं नामों से परिचय दिया है, परंतु शुद्ध नाम भारमल है।

पुत्रका नाम भगवानदास तथा पौत्र का मानसिंह दिया है[१] और उन तीनों को क्रमशः आंबेर का राजा होना माना है।

शेख़ अब्दुलक़ादिर बदायूनी ने, जिसकी मृत्यु हिजरी सन् १०२४ (वि० सं० १६५२-५३) में हुई, अकबर के समय में 'मुंतख़बुत्तवारीख़' लिखी। धर्मांधता के विषय में मुसलमान लेखकों में कोई भी उससे बाज़ी नहीं ले सकता। पग-पग पर हिंदुओं को गालियां देने और उनकी बुराइयाँ करने में वह मुसलमान लेखकों में सबसे आगे बढ़ा हुआ है। उसने अपनी तवारीख़ में अकबर की सेवा को स्वीकार करने वाले आंबेर के राजा का नाम बिहारीमल या पहाड़मल (भारमल), उसके पुत्र का नाम भगवानदास तथा पौत्र का नाम मानसिंह[२] दिया है।

मुहम्मद क़ासिम फ़िरिश्ता ने जिसकी मृत्यु का समय ठीक-ठीक निश्चित् नहीं है, तो भी उसको ई० स० १६१२ (वि० सं० १६६९) और १६२६ (वि० सं० १६८३) में मरना मानते हैं, अकबर के समय में 'तारीख़-फ़िरिश्ता' लिखी, जिसमें उसने अकबर के समय के आंबेर के राजों के नाम भारमल, भगवानदास और मानसिंह दिए हैं[३]।

अबुलफ़ज़ल ने, जो बादशाह अकबर का का दीवान था, और जो ता० ४ रबि-उल-अव्वल, हि० स० १०११ (वि० सं० १६५९, भाद्रपद सुदि ६ शुक्रवार) को नरसिंहदेव (बीरसिंहदेव) बुंदेला के हाथ से मारा गया, 'अकबरनामा' नाम की बड़ी तवारीख़ लिखी है। परंतु इसमें शब्दाडंबर इतना अधिक है कि उस आडंबर को निकाल कर खाली एतिहासिक घटनाओं का ही संग्रह किया जाय तो वह ग्रंथ आधे से भी कम रह जाय। अव्वल दर्जे का ख़ुशामदी होने के कारण उसने कई घटनाओं को तोड़-मरोड़ कर लिखा है और कई निराधार बातें अपने ग्रन्थ में लिख मारी है। ऊपर

---

१ तबक़ात-इ-अकबरी का अँगरेजी खुलासा (इलियट-हिस्ट्री ऑफ़इंडिया) जिल्द ५, पृ० २६३, ३४३, ३६३, ४०२, ४२०, ४४१, ४५०, ४५२ और ४५८।

२ मुंतख़बुत्तवारीख़ (प्रोफेसर एच० डबल्यू० लो-कृत अँगरेजी अनुवाद); जिल्द २, पृ० ५५, १४४ १४६, १४७, १५४, १५८, १७३, २१८, २३३, २३६, २३८, २३९, २४२, २४३, २४७, २४८, २४९, २६६, ३००, ३०१, ३०२, ३०४, ३३०, ३३३, ३५०, ३५२, ३५७ ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६८, ३७०, ३७५, ३९६, ३८३, ३८५, और ३९९,।

३ तारीख़-फ़िरिश्ता (ब्रिग्ज़ का अँग्रेजी-अनुवाद) जि० २, पृ० २३६, २३७, २५२, २५३, २५८, २५९, २६१ २६३, २६८ आदि।

लिखी हुई पहली तीन तवारीख़ों में जिन-जिन घटनाओं का संबंध भगवानदास के साथ बतलाया गया है, उन सबका अबुलफ़ज़ल ने भगवंतदास के नाम से उल्लेख किया है[1] और उसको बिहारीमल (भारमल) का पुत्र कहा है। इससे यह शंका उत्पन्न होती है कि जिस राजा को ऊपर लिखी हुई तीनों पुस्तकों में भगवानदास लिखा है, उसी का नाम क्या भगवंतदास था, अथवा भगवानदास और भगवंतदास दोनों भिन्न व्यक्ति थे? संभव तो यही प्रतीत होता है कि अबुलफ़ज़ल ने अपने शब्दाडंबर की धुन में सर्वत्र भगवानदास के स्थान में भूल से भगवंतदास लिख दिया है। यही उक्त उलझन की मूल-ग्रंथि है।

बादशाह जहाँगीर ने, जिसकी आयु अकबर की मृत्यु के समय ३६ वर्ष के क़रीब थी। अपनी दिनचर्या की पुस्तक 'तुज़ुक-इ- जहाँगीरी' में आंबेर के राजाओं के नाम क्रमशः (भारमल) भगवानदास[1] तथा मानसिंह लिखे हैं और मानसिंह को भगवानदास का भतीजा[2] बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि मानसिंह भगवानदास का पुत्र नहीं, किंतु गोद लिया हुआ, उसके किसी भाई का पुत्र था। परंतु वह कौन से भाई का पुत्र था, यह अस्पष्ट है। ऊपर लिखे हुए चारों इतिहास लेखकों में प्रथम तीन ने तो मानसिंह को भगवानदास का पुत्र कहा है और अबुलफ़ज़ल ने भगवंतदास का, जिसका कारण हम यही अनुमान करते हैं कि मुसलमानों में तो दत्तक पुत्र की प्रथा ही नहीं है, और हिंदुओं में दत्तक पुत्र भी औरस पुत्र के समान माना जाता है। इसी से, संभव है, मुसलमान लेखकों ने मानसिंह को भगवानदास या भगवंतदास का पुत्र लिख दिया हो। बादशाह जहाँगीर का कछवाहों से घनिष्ठ संबंध होने के कारण वह उनसे अधिक परिचित था। इसी से उसने मानसिंह को भगवानदास का भतीजा लिख कर इस उलझन की एक ग्रंथि को सुलझा दिया है।

जयपुर- राज्य में प्राचीन खोज का काम अब तक हुआ ही नहीं। इससे वहाँ के समकालीन-शिलालेखों में इस संबंध में क्या लिखा है, [1] यह ज्ञात नहीं हो सका।

---

१ अकबरनामा (एच० बेवेरिज का अँगरेजी-अनुवाद; जि० २, पृ० २४२, २५४, ३६४, ४७२, ४६६, और ५१६ जिल्द ३; पृष्ठ १६, २०, २१, २७, ४६ आदि।

२ तुज़ुक-इ-जहाँगीरी (रॉजर्स और बेवेरिज-कृत अँगरेज़ी अनुवाद) जिल्द १, पृ० १६, २६ और ४२।

३ तुज़ुक-इ-जहाँगीरी रॉजर्स और बेवेरिज कृत अँगरेजी अनुवाद); जिल्द १, पृ० १६।

समकालीन हिंदु लेखक

संगीताचार्य पंडित पुंडरीक-विट्ठल ने, जो पहले दक्षिण के फारुकी- घराने के सुलतानों का आश्रित था, परंतु उस घराने का राज्य नष्ट होने के बाद आंबेर में भगवंत-दास के पुत्र माधवसिंह के आश्रय में आ रहा था और पीछे से बादशाह अकबर का आश्रित हुआ था-अपने संगीत-ग्रन्थ 'राग-मंजरी' में लिखा है कि कच्छप (कछवाहा)-वंश के राजाधिराज भानुः[1] (भारमल) का पुत्र भगवंतदास वीर-शिरोमणि हुआ। उसके दो पुत्र बड़े विनम्र, शूर-वीर एवं धार्मिक माधवसिंह और मानसिंह हुए, जो युद्ध-कुशल तथा बादशाह अकबर की दानों भुजाओं के समान थे। उसने अकबर को मेरु-रूप बतलाया है, दूसरे राजाओं को तारागण, एवं माधवसिंह तथा मानसिंह को चंद्र और सूर्य के समान कहा है[2]। इससे यह निश्चित है कि माधवसिंह और मानसिंह, दोनों भगवंतदास के पुत्र थे और उनमें माधवसिंह बड़ा और मानसिंह छोटा था; क्योंकि पुंडरिक विट्ठल ने दो बार माधवसिंह का पहले और मानसिंह का पीछे नाम लिखा है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि माधवसिंह बड़ा और मानसिंह छोटा था। इनमें मानसिंह को भगवानदास ने गोद लिया और और वही उसके पीछे आंबेर का राजा हुआ। यही अभिप्राय जहाँगीर के लेख से भी निकलता है। इससे उक्त उलझन की दूसरी ग्रंथि सुलझ जाती है।

---

१ संस्कृत के पंडित लौकिक नामों को संस्कृत रूप देते समय उनमें बड़ा फेर-फार कर डालते हैं। ऐसा ही यहाँ हुआ है। पुंडरीक-विट्ठल को जो दक्षिण का रहने वाला था, राजपूताने में प्रचलित भारमल नाम विलक्षण प्रतीत होने से ही उसने उसको 'भानुः' बना दिया हो, यह सम्भव है।

२ श्रीमत्कच्छपवंशदीपकमहाराजाधिराजेश्वरः
तेजः पुञ्ज महाप्रतापनिकरो भानुः क्षितौ राजत;
तस्यासीद्भगवन्तदासतनयो वीराधिवीरेश्वरः
क्षोणीमण्डलमण्डनो विजयते भूमण्डलाखण्डलः।
तस्यद्वौतनयौ प्रभूतविनयौ शूरौ महाधार्मिकौ
जातौ पंक्तिरथात्मजौत्वकबरक्षोणीपतेः स्वौ भुजौ;
सिंहौ माधवमानपूर्वपदकौसंग्रामदक्षावुभौ
तेजत्यागसहस्त्रहस्तकलितौ श्री सर्वभूमीश्वरौ।
अकबरनृपधर्मी शक्रतश्चाति भीमो
धरणिगगनमध्यंजङ्गमोमध्यमेरुः;

पुंडरीक विट्ठल ने 'राग-मंजरी' नामक ग्रंथ माधवसिंह के आश्रय में रह कर बनाया था,[१], इसलिये उसका कथन अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि अबुल-फ़ज़ल का यह कथन कि "भारमल के पीछे भगवंतदास आंबेर का राजा हुआ", विश्वास के योग्य नहीं। अब यह देखने की भी आवश्यकता है कि पिछले इतिहास लेखकों ने इस संबंध में क्या लिखा है।

नैणसी की ख्यात

मुँहणोत नैणसी ने अपनी ख्यातों का वि० सं० १७०७ के कुछ पहले से लगा कर १७२२ के लगभग तक संग्रह किया,[२] जिसमें उसने कछवाहों की ८ वंशावलियाँ दी हैं। पहली वंशावली उदेही के भाट राजपाल ने लिखाई थी, जिसमें १७४ वीं संख्या पर राजा भारमल का नाम है और उसके १० बेटों के नाम राजा भगवंतदास, राजा भगवानदास, भोपत, सलहदी, सादूल (शार्दूल) सुंदा, पृथ्वीद्वीप, रूपचंद, परशुराम और जगन्नाथ दिए हैं। भारमल के पीछे राजा भगवंतदास का आंबेर का राजा होना भी लिखा है। उसने भगवंतदास के पुत्रों के नाम राजा मानसिंह, माधवसिंह, सूरसिंह, प्रतापसिंह, कान्ह, चंद्रसेन, हरदास, वनमालीदास और भीम [सिंह] लिखे हैं, तथा उनमें भगवंतदास के पीछे मानसिंह का राजा होना माना है[३]। भगवंतदास का आंबेर का राजा होना अबुल-फ़ज़ल के कथन से प्रमाणित है और आश्चर्य नहीं कि अबुलफजल के ग्रंथ की प्रसिद्धि के पीछे, उसी के आधार पर, राजपाल ने वैसा लिख दिया हो, जो रागमंजरी और तुज़ुक-इ-जहाँगीरी के विरुद्ध है।

सकलनृपतितारा चन्द्रसूराविभौ द्वौ
जगति जयनशीलौ माधवामानसिंहौ।
रागमंजरी (पंडित पुण्डरीक-विट्ठल कृत); पृ० १,
(आर्यभूषण प्रेस पूना में मुद्रित)।

१ अगणितगणकचिकित्सकवेदान्तन्यायशब्दशास्त्रज्ञाः
दृश्यन्ते बहवः सङ्गीतो नात्र दृश्यतेऽप्येकः।
इत्युक्ते माधवेसिंहे विट्ठलेन द्विजन्मना;
नत्वा गणेश्वरंदेवं रच्यते रागमंजरी।
राग-मंजरी (पंडित पुण्डरीक-विट्ठल-कृत); पृष्ठ २।

२ नागरी प्रचारिणीसभा द्वारा प्रकाशित, मुँहणोत नैणसी की ख्यात; प्रथम भाग के प्रारंभ में मुँहणोतनैणसी का वृत्तान्त; पृष्ठ ६।

३ मुँहणोत नैणसी की हस्त-लिखित ख्यात, पृष्ठ ६३। २

नैणसी ने एक दूसरी विस्तृत वंशावली भी दी है, जिसमें राजा सोढदेव का नाम सबसे प्रथम लिखा है। उसमें बहुत से राजों के पुत्रों और वंशजों की भी विस्तृत नामावली संगृहीत है। १९ वाँ नाम राजा भारमल का है और आगे लिखा है 'भारमल का पुत्र भगवानदास आंबेर का राजा हुआ, जिसके पीछे मानसिंह गद्दी पर बैठा।" परन्तु कुछ आगे चल कर भगवानदास के दो पुत्रों के नाम मोहनदास और अखेराज दिए हैं, और भगवंतदास का, भारमल या भगवानदास से कोई संबंध न बतला कर, उसके पुत्रों के नाम माधवसिंह, सूरसिंह प्रतापसिंह और बलराम दिए हैं[1]। नैणसी का यह कथन कि भगवानदास के दो पुत्र थे, विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि उसके दो पुत्र होते, तो उसके पीछे उसका भतीजा मानसिंह आंबेर-राज्य का स्वामी न होता। यदि नैणसी का यह कथन ठीक हो, तो यही कहना पड़ेगा कि भगवानदास के दोनों पुत्र बाल्यावस्था में ही मर गए होंगे, जिससे मानसिंह आंबेर का अधिपति हुआ।

हमारे संग्रह में जयपुर की भिन्न २ चार ख्यातें मौजूद हैं, जिनमें से एक में वि०सं० १८९१ तक का वर्णन है। उसमें भारमल के १० पुत्रों के नाम भगवंतदास, भगवानदास, जगन्नाथ, परशुराम, सादूल सलहदी, सुंदरदास, पृथ्वीदीप रामचंद्र और विट्ठलदास दिए हैं, तथा भारमल के पीछे भगवंतदास का राजा होना माना है। भगवंतदास के चार पुत्र मानसिंह, माधवसिंह, सूरसिंह और वनमालीदास का होना और इनमें से मानसिंह का आंबेर की गद्दी पर बैठना भी बतलाया है। इसी तरह भगवानदास के तीन पुत्रों के नाम अखेराज, हरराम और अर्जुन दिए हैं और अखेराज का लवाण, हरराम का केलाई और अर्जुन का तुंगे की जागीर पाना लिखा है।

दूसरी ख्यात हमारे जयपुर-निवासी इतिहास-प्रेमी मित्र पुरोहित हरिनारायणजी के संग्रह की प्रति की नकल है। उसमें भारमल के भगवंतदास, सुंदरदास, पृथ्वीदीप, भगवानदास, रूपचंद, जगन्नाथ, महेशदास, सादूल, भोपत और परशुराम, ये दस पुत्र होना और इनमें भगवंतदास का राजा होना माना है। भगवानदास का लवायन (लवाण) में राज्य करना और उसके दो पुत्र अखेराज और हिरदेराम होना भी बतलाया है। भगवंतदास के पीछे उसके पुत्र मानसिंह का आंबेर का राजा होना भी माना है।

तीसरी और चौथी ख्यातें जयपुर-निवासी पं० केदारनाथजी के यहां से प्राप्त हुईं। उनमें भी राजा भारमल के पीछे भगवतदास (भगवंतदास) का और उसके पीछे मानसिंह का राजा होना तथा माधवसिंह का मानगढ़ की की जागीर पाना लिखा है।

---

१ मुँहणोत नैणसी की हस्त-लिखित ख्यात, पृष्ठ ६५।

इन चारों ख्यातों का हमारे इस लेख के संबंध का कथन मानने-योग्य नहीं है; क्योंकि ऊपर बतलाए हुए कारणों से स्पष्ट है कि राजा भारमल के पीछे भगवानदास राजा हुए, न कि भगवंतदास और भगवानदास के पीछे उसके छोटे भाई भगवंतदास का छोटा पुत्र मानसिंह आंबेर के राज्य का स्वामी हुआ, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

राजपूताने के भिन्न-भिन्न राज्यों की जितनी ख्यातें मिलती हैं, उनमें एक भी विक्रम सं० १७०० के पूर्व की लिखी हुई नहीं है। प्रायः सभी इसके पीछे की हैं। अकबर के दरबार में जब राजपूताने के राजा रहने लगे और वे मुसलमानों के इतिहास से परिचित हुए, तभी से उनके यहाँ ख्यात लिखने का सिलसिला जारी हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है। इन ख्यातों में वि० सं० १६०० से पूर्व का इतिहास सुना-सुनाया लिखा है, जो अनिश्चित है और संवत् भी बहुधा मनमाने दिए हैं। इन ख्यातों में राजा के गद्दी पर बैठने और मृत्यु के संवत् एवं रानियों, कुँअरों और कुँअरियों के नाम तथा कुछ-कुछ वृत्तांत मिलते हैं। ऐसी ख्यातें लिखने का काम बहुधा मामूली मनुष्यों के सिपुर्द रहता था, जिससे उनमें मुख्य-मुख्य ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कम ही मिलता है, और वह भी पक्षपात से खाली नहीं। ऐसी स्थिति में विक्रम की १७ वीं शताब्दी के इतिहास के लिये ये ख्यातें विशेष सहायक नहीं हो सकतीं।

योरपियन लेखक

योरपियन इतिहास लेखकों में सबसे प्रथम कर्नल टॉड ने अपने वृहद् ग्रंथ 'राजस्थान' में जयपुर का भी इतिहास दिया है। उसमें आंबेर के राजा भारमल के पीछे भगवानदास का राजा होना लिखकर, साथ में उस (भगवानदास) के तीन और भाइयों-सूरतसिंह, माधवसिंह और जगतसिंह—का होना माना है, तथा जगतसिंह के पुत्र मानसिंह का भगवानदास के पीछे आंबेर का राजा होना बतलाया है[1]। किंतु टॉड के अनुसार माधवसिंह को भगवानदास का भाई और मानसिंह को जगतसिंह का पुत्र मानना युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि माधवसिंह और मानसिंह, दोनों भगवानदास[2] के पुत्र थे, जैसा कि 'राग-मंजरी' से ऊपर प्रमाणित किया जाचुका है।

कर्नल टॉड का राजस्थान प्रकाशित होने के ३६ वर्ष बाद ई० स० १८६८ (वि० सं० १९२५) में जयपुर के पोलिटिकल एजेंट कर्नल जे० सी० ब्रुक ने 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ दी स्टेट ऑफ जयपुर' नामक पुस्तक लिखी, जिसे गवर्नमेंट ऑफ इंडिया के फॉरेन डिपार्टमेंट ने अपने सिलेक्शन-संख्या ६५ में

---

१ कर्नल टॉड का राजस्थान (आक्सफोर्ड-संस्करण); जिल्द ३, पृ० १३३७-१३३८ और पृ० १३३८ की टिप्पणी २।

प्रकाशित किया। उसमें राजा भारमल के पीछे उसके पुत्र भगवंतदास का राजा होना, उसके (भगवंतदास) के तीन भाइयों माधवसिंह, सूरसिंह और जगतसिंह होना तथा जगतसिंह के पुत्र मानसिंह का भगवंतदास के पीछे आंबेर का राज्य पाना माना है[1]। इसमें भगवंतदास को राजा मान लेने से टॉड से भी अधिक गलती होगई है

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक विंसेंट ए० स्मिथ ने अपनी 'अकबर'-नामक पुस्तक में आंबेर के राजा बिहारमल (भारमल) के पीछे भगवानदास और उसके पीछे उसके भतीजे मानसिंह का जो भगवानदास का दत्तक पुत्र था, राजा होना लिखा है[2]। परंतु यह नहीं बतलाया कि मानसिंह भगवानदास के किस भाई का पुत्र था।

योरपियन लेखकों ने फ़ारसी तवारीख़ों के अंगरेज़ी-अनुवादों के अंत की अकारादि नामों की सूची में भगवानदास और भगवंतदास को एक ही व्यक्ति मान लिया है, जो ठीक नहीं।

हमारे इस लेख का निष्कर्ष यही है कि आंबेर के राजा भारमल के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र भगवानदास वहाँ का राजा हुआ और भगवानदास के कोई पुत्र न होने के कारण उसके छोटे भाई भगवंतदास का छोटा पुत्र मानसिंह गोद लिया जाकर उसका (भगवानदास का) उत्तराधिकारी हुआ। भगवानदास और भगवंतदास दो अलग-अलग भाई थे। परन्तु अबुलफज़ल ने भ्रम से भगवानदास की जगह भगवंतदास को लिख दिया, इसीसे यह उलझन शुरु हुई। अकबर के समय अन्य मुसलमान लेखकों तथा बादशाह जहाँगीर ने भगवानदास का नाम लिखा था; परन्तु अबुलफ़जल के अकबरनामे की प्रसिद्धि अधिक होने के कारण पिछली ख्यातों में भगवंतदास को आंबेर का राजा और भगवानदास को लवाण का सरदार लिख दिया गया। इसी तरह हमारे मित्र प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता मुंशी देवीप्रसाद (स्वर्गवासी) ने 'अकबर-नामा' नामक पुस्तक हिंदी और उर्दू में प्रकाशित की, जिसमें भी भगवानदास की जगह सर्वत्र भगवंतदास का नाम लिखा है, और 'तुजुक-इ-जहाँगीरी' के उनके हिंदी अनुवाद में, मूल में, सर्वत्र भगवानदास नाम होने पर भी उसका शुद्ध रूप भगवंतदास होना माना है। इसमें मुंशीजी भी ख्यात लेखकों की तरह अबुलफजल की भूल-भुलैया में रास्ता भूल गए हैं।

इस विषय में हमें जो कुछ प्रमाण मिल सके, उनके आधार पर हमने इस उलझन के सुलझाने का प्रयत्न किया है। राजपूताने के इतिहास के प्रेमियों तथा विश्वविद्यालयों और कालेजों

---

१ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ जयपुर; पृ० १४ और शेष-संग्रह, संख्या १।

२ विंसेट ए० स्मिथ-अकबर दी ग्रेट मोगल; पृ० ५७ और ५८।

के इतिहास के अध्यापकों से हमारा नम्र निवेदन है कि यदि वे हमारे कथन से सहमत न हों, तो अपने मत को सप्रमाण प्रकाशित कर इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न करें और यश के भागी हों।

माधुरी (मा०प०) लखनऊ,
वर्ष ४, खंड २, सं०६, पृ०७६३-६८,
वि०सं०१९८३ आषाढ, ई०स०१९२६ जुलाई।

सम्पादकीय टिप्पण

1 जयपुर के जमुहाय रामगढ़ से आंबेर के महाराजा मानसिंह के समय का वि०सं० १६६९ फाल्गुन सुदि ५ (ई० १६१३) का एक प्रस्तर लेख मिला है, जो प्रिन्स एलबर्ट म्युजिअम जयपुर में सुरक्षित है। राजस्थान सरकार के आर्कियालोजी और म्युजियम विभाग के चीफ सुपरिन्टेन्डेन्ट डॉ०सत्यप्रकाशजी श्री वास्तव एम०ए०,पी०एच०डी० द्वारा हमें उपर्युक्त शिलालेख का इम्प्रेशन प्राप्त हुआ, जिसको हम ज्यों का त्यों यहां उद्धृत करते हैं। उससे पाठकों को ज्ञात होगा कि ख्यातों आदि के अनुसार ही उक्त लेख में भगवन्तदास को आंबेर के राजाओं की श्रेणी में बतलाकर भगवन्तदास का पुत्र मानसिंह होना बतलाया है।

"स्वस्ति श्री श्रीमन्नृपविक्रमादित्यराज्यातीतसम्वत् १६६९सा(शा)लिवाहनशाकातीत· १५३४फाल्गुनशुक्लपक्षे ५ रविवासरे श्रीमज्जहांगीर साहिसलेम राज्येवर्त्तमाने श्रीरघुवंशतिलक कछवाहकुलमंडन श्रीराजापृथ्वीराजतत्पुत्र श्रीराजा भारहमल्लतत्पुत्रश्री राजा भगवंतदासतत्पुत्र सकल नरेंद्रचूडामणि प्रतापपराभूत समस्तपृथ्वीविजयप्राप्त महायशोराशि विराजमान श्रीमहाराजाधिराज मानसिंहनरेन्द्रः कारित रामगढ़ प्रकाराख्यं दुर्गं कुपारामोप शोभितं तत्रपरमपवित्र श्रीपद्माकरपुरोहितपुत्र श्रीपुरोहितपीतां(ब)रस्याधिकारेसिद्धं ॥ तत्रकार्ज (र्यं) निज्ञ (यु)क्ता शिल्पिना एतद्देशीय निजामश्च ॥ अन्ये च तन्मतानुसारिणः॥"

(मूल लेख की छाप से)

(सं० टि०)

2 राग-मंजरी में स्पष्टतः मानसिंह और माधवदास को महाराजा भगवंतदास का पुत्र होना बतलाया है (देखो ऊपर पृ० ४५ टि०२)। मूलनिबंध में भगवानदास नाम संभवतः भूल से छपा हो।
(सं० टि०)

---

५ महाराणा प्रताप की पहाड़ों में स्थिति

विक्रम सम्वत् की बारहवीं शताब्दी तक सामान्यतः प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष और विशेषतः राजपूताना के राज्य स्वतन्त्र थे। मुसलमान अभी तक सिंध तथा कुछ उत्तरी सीमान्त प्रदेश पर ही अधिकार कर सके थे। यद्यपि महमूद गज़नी के आक्रमण काठियावाड़, मथुरा और कन्नौज पर भी हुए, तथापि मुसलमानों का राज्य स्थिर नहीं हुआ। अन्त में गोरी वंश के शहाबुद्दीन ने वि० सं० १२४८ में अजमेर के वीरवर पृथ्वीराज चौहान से लड़ाई की। यह युद्ध थानेश्वर में हुआ। इस युद्ध में शहाबुद्दीन परास्त हुआ, परन्तु दूसरे साल बड़ी भारी सेना के साथ वह फिर आया। युद्ध में पृथ्वीराज कैद हुआ और कुछ महीनों बाद मारा गया। इस तरह राजपूताना के केन्द्र अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

इसके बाद भी करीब तीस बरस तक मेवाड़ पर दिल्ली के किसी सुलतान ने विशेष आक्रमण नहीं किया। शम्सुद्दीन अल्तमश ने मेवाड़ के राणा जैत्रसिंह[1] पर आक्रमण कर उसकी राजधानी नागदा को तोड़ा सही, परन्तु अन्त में उसे भी हारकर भागना पड़ा तब दूसरी बार चित्तौड़ का किला राजधानी बनाया गया। इसके बाद अलाउद्दीन खिलजी ने वि० सं० १३५९ में चित्तौड़ पर बड़ी भारी सेना के साथ आक्रमण किया। यही 'चित्तौड़ का पहला शाका' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युद्ध में चित्तौड़ पर खिलजी का अधिकार हो गया। कुछ साल बाद महाराणा हम्मीर ने इसे फिर अपने हाथ में कर लिया। इसके बाद प्रत्येक महाराणा के समय मालवा, गुजरात और दिल्ली के हमले होते रहे, परन्तु प्रायः सभी में महाराणा ही जीतते रहे।

सन् १५२७ ई० में बाबर की महाराणा सांगा से लड़ाई हुई। इसी लड़ाई से मुगलों का मेवाड़ से सम्बन्ध प्रारम्भ होता है।

बाबर के पुत्र हुमायूं का मेवाड़ से सम्बन्ध बिलकुल दूसरी तरह का होता है और वह होता है मित्रता के रूप में। गुजरात का बहादुरशाह चित्तौड़ पर अधिकार कर लेता है और वहाँ की

महाराणी कर्मवती हुमायूं को भाई के तौर पर सहायता के लिए बुलाती हैं। इसके बाद अकबर दिल्ली की गद्दी पर बैठता है और सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन करने का प्रबल और सफल प्रयत्न करता है। इससे पहले गुलाम खिलजी, तुगलक, सैयद (लौदी) और सूरवंश ने दिल्ली पर राज्य किया, परन्तु उन्हें राजपूतों की सहायता न मिलने के कारण उनमें से एक का भी वंश १०० वर्ष भी स्थिर न रह सका। बाबर ने भारत में मुगल राज्य स्थापित किया, परन्तु उपर्युक्त कारण से ही हुमायूँ को भारत छोड़कर ईरान में शरण लेनी पड़ी। इन सब परिवर्तनों से शिक्षा ग्रहण कर अकबर ने यही स्थिर किया कि हिन्दू राजाओं की सहायता पर ही राज्य स्थिर रह सकता है। इसकी पूर्ति के लिए ही उसने हिन्दू राजाओं को मनसब आदि देकर अपने अधीन करना प्रारम्भ किया। कई राज्यों ने उसकी अधीनता भी स्वीकार कर ली परन्तु मेवाड़ ने अकबर की अधीनता स्वीकार न की।

अकबर जानता था कि मेवाड़ राजपूत राज्य का शिरोमणि है, वह अधीन हो जायगा, तो और अनेक राजपूत राज्यों को विजित करने में अधिक परिश्रम नहीं होगा। इसलिए उसने मेवाड़ को जीतने में अपनी सारी ताक़त लगा दी। यद्यपि उसने उदयसिंह से चित्तौड़ का किला छीन लिया तथापि वह उसे अधीन न कर सका। उसके बाद स्वतन्त्रता का पुजारी वीर-शिरोमणि प्रताप अपने रण-कौशल तथा नीतिज्ञता के बल पर थोड़ी सेना के साथ अकबर का सालों तक मुक़ाबला करता रहा। हल्दी-घाटी के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक युद्ध के बाद महाराणा ने मेवाड़ के दुर्गम पहाड़ों का आश्रय लिया। समय देखकर वह मुगल-सेना पर टूट पड़ता और फिर पहाड़ों में चला जाता। मुगल-सेना भी बहुत समय तक महाराणा का पीछा करती रही, परन्तु पहाड़ों में एक बार भी उसे सफलता नहीं मिली। इन लड़ाइयों का वर्णन करते हुए कर्नल टॉड ने महाराणा प्रताप की विपत्तियों का इस तरह वर्णन किया है—

"कुछ ऐसे अवसर आये कि अपनी अपेक्षा भी अधिक प्रिय व्यक्तियों की जरूरतों ने उसे कुछ विचलित कर दिया। उसकी महाराणी पहाड़ों की चट्टानों या गुफाओं में भी सुरक्षित नहीं थी और ऐश-आराम में पलने के योग्य उसके बच्चे भोजन के लिए उसके चारों तरफ रोते रहते थे, क्योंकि अत्याचारी मुगल उनका इतना पीछा करते थे कि राणा को बना-बनाया भोजन पांच बार छोड़ना पड़ा। एक समय उसकी राणी तथा कुंवर (अमरसिंह) की स्त्री ने जंगली अन्न के आटे की रोटियां बनाई और प्रत्येक के भाग में एक-एक रोटी आई; आधी रोटी उस समय के लिए और आधी दूसरे समय के लिए। प्रताप उस समय अपने दुर्भाग्य पर विचार कर रहा था कि उसकी लड़की के हृदय-वेधी चीत्कार ने उसे चौंका दिया। बात यह हुई कि एक जंगली बिल्ली उसकी रखी हुई रोटी उठा

ले गई, जिससे मारे भूख के वह चिल्लाने लगी। उस समय प्रतापसिंह का धैर्य विचलित हो गया। अपने पुत्रों और सम्बन्धियों को प्रसन्नता पूर्वक रण-क्षेत्र में अपने साथ लड़ते हुए देख कर वह सदैव उत्साहित रहताथा परन्तु भोजन के लिए अपने बच्चों की चिल्लाहट के कारण उसकी दृढ़ता स्थिर न रह सकी। ऐसी स्थिति में राज्य करना उसने शाप के तुल्य समझा और अकबर को अपनी आपत्ति कम करने के लिए लिखा।"

कर्नल टॉड के बाद के सभी ऐतिहासिकों ने इस कथन की सत्यता को स्वीकृत कर लिया। प्रायः सभी काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के लेखकों ने प्रताप के उपर्युक्त करुणापूर्ण दृश्य का बड़ी मार्मिक भाषा में वर्णन किया है। आज कल टॉड का उपर्युक्त वर्णन ऐतिहासिक सत्य माना जाने लगा है। परन्तु वस्तुतः यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है। इसी सम्बन्ध में हम यहां कुछ विचार करना चाहते हैं,

वस्तुतः महाराणा प्रताप के सम्बन्ध में इस कथा का कहना उदयपुर राज्य की भौगोलिक अवस्था से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। मेवाड़ का पर्वतीय प्रदेश इतना विशाल और दुर्गम है कि मुगलसेना वहाँ तक अच्छी तरह पहुँच ही नहीं सकी। उत्तर में कुंभलगढ़ से लगाकर दक्षिण में ऋषभदेव से परे तक अनुमान ९० मील लम्बा और पूर्व में देबारी से पश्चिम में सिरोही की सीमा तक करीब ७० मील चौड़ा पहाड़ी प्रदेश है, जो एक के पीछे एक पर्वत-श्रेणियों से भरा हुआ है। इतना विशाल प्रदेश महाराणा के अधिकार में था। इसी प्रदेश में महाराणा, सरदारों तथा राजपूत-सेना के स्त्री, बाल-बच्चे आदि हज़ारों की संख्या में रहते थे और किसी को अन्न-कष्ट न था। यह पहाड़ी प्रदेश बहुत उपजाऊ है। इसमें मक्का, चने, चावल आदि अन्न अधिकता से पैदा होते हैं, और गौ, भैंस आदि पशुओं की बहुतायत से घी-दूध की कमी नहीं है।

इस पर्वत-श्रेणी के अन्दर कई जगह समान भूमि भी आ गई है, जहाँ खेती अच्छी तरह हो सकती है। वहाँ सैकड़ों गाँव आबाद हैं और हजारों भील तथा अन्य जातियाँ बसती हैं। यदि इतने पर भी अन्न की कमी हो तो गोड़वाड़, सिरोही, ईडर और मालवे की तरफ के खुले हुए मार्गों से अन्न बहुत आसानी से लाया जा सकता था छप्पन तथा बागमी से लगाकर धर्यावद के परे तक का प्रदेश भी महाराणा के अधिकार में था।

इतने बड़े पहाड़ी प्रदेश को घेरने के लिए लाखों की संख्या में सेना चाहिए थी। मेवाड़ में लगभग छः मास तक स्वयं रहकर भी अकबर उसके पहाड़ी प्रदेश को न जीत सका। मानसिंह, भगवानदास, शाहबाजखां आदि इन्हीं पर्वतों से हैरान होकर बार बार वापस चले जाते थे। मुग़ल-सेना कभी दूर तक पहाड़ों में घुसने का साहस न कर सकी।

महाराणा प्रताप अपनी सेना के साथ निडर होकर पहाड़ों में रहता था। यदि महाराणा प्रताप के परिवार को भी भोजन मिलने में इतने कष्ट होते, तो उसकी सम्पूर्ण सैना तथा उसके परिवार को तो कई दिन लगातार भूखों रहना पड़ता होगा। फिर उसकी सेना लड़ती कैसे ? इसलिए कर्नल टॉड द्वारा वर्णित महाराणा प्रताप की आपत्तियों में कोई ऐतिहासिक सत्यता नहीं है।

फिर यदि कर्नल टॉड के कथन में कुछ भी सचाई होती, तो तात्कालिक लेखक अबुलफजल, जो राजपूतों की दुर्दशा को बहुत बढ़ाकर लिखने में सिद्धहस्त है, इसका विस्तृत वर्णन अवश्य करता। परन्तु उसने 'अकबरनामा' में आपत्ति-ग्रस्त महाराणा के अधीनता स्वीकार करने के लिए अकबर को पत्र लिखने का उल्लेख तक नहीं किया।

इस कल्पित कथा की तरह अन्य भी अनेक कथायें महाराणा प्रताप' के सम्बन्ध में पीछे से लोगों ने बना ली हैं, जिन्हें कर्नल टॉड ने अपने ग्रन्थ में स्थान देकर ऐतिहासिक रूप दे दिया है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि अपने प्राचीन पूर्वजों के सम्बन्ध में ऐसी निराधार वार्ता का खण्डन किया जाय। हमने महाराणा प्रतापसिंह के चरित में इस तरफ़ कुछ प्रयत्न किया है।

त्यागभूमि (मासिक पत्रिका) अजमेर,
वर्ष २, अंक ६, ज्येष्ठ १९८६ वि०

---

1. वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी के अन्त में होने वाले मेवाड़ के गुहिलवंशी सीसोदिया शाखा के महाराणा हंमीरसिंह के पूर्व,मेवाड़ के नरेशों की राणा उपाधि नहीं थी और जैत्रसिंह के लेखों में भी उसकी राणा उपाधि नहीं होकर 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' आदि दी है। मूल निबंध में राणा शब्द भूल से छपना प्रतीत होता है।

सं० टि०

महाराणा प्रताप की सम्पत्ति

कर्नल टॉड ने लिखा है—"शत्रु के प्रवाह को रोकने में असमर्थ होने के कारण उसने (प्रताप ने) अपने चरित्र के अनुकूल एक प्रस्ताव किया और तदनुसार मेवाड़ एवं रक्त से अपवित्र चित्तौड़ को छोड़ कर सीसोदियों को सिन्धु के तट पर लेजाकर वहाँ की राजधानी सोगड़ी नगर में अपना लाल झण्डा स्थापित करने एवं अपने निर्दय शत्रु (अकबर) के बीच में रेगिस्तान छोड़ने का निश्चय किया। वह अपने कुटुंबियों, मेवाड़ के सरदारों और जागीरदारों के दृढ़ और निर्भीक समुदाय के साथ, जो अपमान की अपेक्षा स्वदेश-निर्वासन को अधिक पसन्द करता था, अरवली पर्वत से उतर कर रेगिस्तान की सीमा पर पहुँचा। इतने में एक ऐसी घटना हुई, जिससे उसको अपना विचार बदल कर अपने पूर्वजों की भूमि में ही रहना पड़ा। यद्यपि मेवाड़ की ख्यातों में असाधारण कठोरता के कामों का उल्लेख मिलता है, तो भी वे अद्वितीय राजभक्ति के उदाहरणों से खाली नहीं हैं। प्रताप के मन्त्री (भामाशाह) ने, जिसके पूर्वज बरसों तक उसी पद पर नियत रहते थे, इतनी सम्पत्ति राणा को भेंट करदी कि जिससे पच्चीस हजार सेना का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकता था। भामाशाह मेवाड़ के उद्धार के नाम से प्रसिद्ध है॥।"

टॉड के इस कथन का सारांश यही है कि महाराणा प्रताप के पास अकबर जैसे शत्रु से लड़ते रहने के लिए संपत्ति न होने के कारण उसने अपने कुटुंबियों और सरदारों आदि सहित मेवाड़ को छोड़ कर सिंध में जाने और वहाँ नई राजधानी स्थापित करने का दृढ़ संकल्प कर रेगिस्तान की तरफ प्रयाण किया, परंतु मार्ग में ही, उसके मन्त्री भामाशाह ने बहुत बड़ी सम्पत्ति उसके नजर करदी, जिससे उसका उत्साह बढ़ा और वह मातृ भूमि को लौट आया। टॉड के इस कथन को हम बहुधा कल्पित कथा ही समझते हैं। भामाशाह और उसका पिता (भारमल) उदयपुर राज्य के सच्चे स्वामिभक्त सेवक अवश्य थे,[1] और भामाशाह राज्य की सम्पत्ति को सुव्यवस्थित करता रहा,[2] इसमें

॥ 'टॉड-राजस्थान'; जिल्द १, पृष्ठ ४०२-३ (ऑक्सफोर्ड-संस्करण)।

सन्देह नहीं; परन्तु आधुनिक शोध के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि महाराणा प्रताप के पास अतुल सम्पत्ति विद्यमान थी और धन की कमी के कारण उसके स्वदेश को छोड़ कर अन्यत्र जा बसने का विचार भी सर्वथा निमू'ल है।

अब प्रताप की सम्पत्ति के विषय में नीचे संक्षेप से विचार किया जाता है—

प्रतापी महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) और संग्रामसिंह (सांगा) ने दूर-दूर तक विजय कर बड़ी स्मृद्धि सञ्चित की थी। महाराणा उदयसिंह के समय बादशाह अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, उसके पूर्व ही महाराणा अपने कुटुंब-सहित चित्तौड़ छोड़ कर मेवाड़ के सुरक्षित पहाड़ों में जा रहा। उस समय राज्य को सारी सम्पत्ति चित्तौड़ से हटा ली गई थी, जिससे अकबर को चित्तौड़ विजय करने पर कुछ भी न मिला। यदि कुछ भी सम्पत्ति उसके हाथ लगती तो अबुलफजल जैसा खुशामदी लेखक राई का पहाड़ बनाकर उसका बहुत कुछ वर्णन अवश्य करता; परन्तु उसका इस विषय में मौन धारण करना ही इस बात का प्रमाण है कि मेवाड़ की सम्पत्ति का कुछ भी अंश अकबर के हाथ न लगा और वह ज्यों की त्यों सुरक्षित रही।

चित्तौड़ छूटने के बाद महाराणा उदयसिंह के लिए सम्पत्ति एकत्र करने का तो कोई साधन ही नहीं रहा था, उसके पीछे महाराणा प्रतापसिंह मेवाड़ के राज्य-सिंहासन पर बैठा, जो बहुधा उम्र-भर मेवाड़ के विस्तृत पहाड़ी प्रदेश में रहकर अकबर से लड़ता रहा। प्रतापसिंह के पीछे उसका ज्येष्ठ कुँवर अमरसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ, वह भी लगातार अपने राज्य की स्वतन्त्रता के लिए अपने पिता प्रताप का अनुकरण कर अकबर और जहाँगीर का मुक़ाबला करता रहा।

महाराणा प्रतापसिंह के समय मुसलमानों से लगातार लड़ाइयाँ होने के कारण चतुर मंत्री भामाशाह ने राज्य का खज़ाना सुरक्षित स्थानों में गुप्त रूप से रखवाया था, जिसका ब्योरा वह अपनी एक बही में रखता था। उन्हीं स्थानों से आवश्यकतानुसार द्रव्य निकालकर वह लड़ाई का खर्च चलाता था। महाराणा अमरसिंह के समय वि० सं० १६५६ माघ सुदि ११ को उसका देहांत हुआ। देहांत से पूर्व उसने उपयु'क्त बही को अपनी स्त्री को देकर कहा कि इसमें राज्य के खज़ाने का ब्योरेवार विवरण है, इसलिए इसको महाराणा के पास पहुँचा देना[3]।

ऐसी दशा में यह कहना अनुचित होगा कि चित्तौड़ का क़िला अकबर के हस्तगत होने के पीछे मेवाड़ के राजाओं को सम्पत्ति एकत्र करने का अवसर ही नहीं मिला था। विक्रमी संवत् १६७१ में महाराणा अमरसिंह और बादशाह जहाँगीर की संधि हुई। उस समय महाराणा ने शाहजादा खुर'म से मुलाकात करते समय एक लाल नज़र किया, जिसके विषय में जहाँगीर अपनी दिनचर्या में

लिखता है—"उसका मूल्य ६०,०००) रुपया और तोल आठ टांक था। यह पहले राठोड़ों के राजा राव मालदेव के पास था। उसके पुत्र चन्द्रसेन ने अपनी आपत्ति के समय उसे उदयसिंह को बेंच दिया था*। वि० सं० १६७३ में शाहजादा खुर्रम दक्षिण में जाता हुआ मार्ग में उदयपुर ठहरा। उस प्रसंग में बादशाह जहाँगीर अपनी दिन चर्य्या में लिखता है—"शाह खुर्रम ने राणा के सम्मान का पूरा खयाल रख कर उसे खिलअत, चार कब, रत्नजटित तलवार, जड़ाऊ–खपवा (एक प्रकार का शस्त्र), ईरानी और तुर्की घोड़े और एक हाथी देकर सम्मान के साथ उसको विदा किया। उसने राणा के कुँवरों तथा संबंधियों को खिलअतें दी। राणा ने शाहजादे को ५ हाथी, २७ घोड़े और रत्नों तथा रत्नजटित जेवरों से भरा एक थाल नज़र किया; परन्तु शाहजादे ने केवल तीन घोड़े लेकर बाक़ी सब चीजें वापिस करदीं"। † जहाँगीर के इन कथनों से महाराणा अमरसिंह के समय की मेवाड़ की सम्पत्ति का कुछ अनुमान पाठक लोग कर सकेंगे। यदि महाराणा प्रतापसिंह के पास कुछ भी संपत्ति न होती तो उसका पुत्र महाराणा अमरसिंह संधि के समय ही इतने रत्नादि कहां से प्राप्त कर सकता ?

अमरसिंह के पीछे उसका ज्येष्ट पुत्र कर्णसिंह राजगद्दी पर बैठा जिसका सारा समय अपने उजड़े हुए इलाकों को आबाद करने में लगा। तदनंतर महाराणा जगतसिंह मेवाड़ का शासक हुआ, जो बड़ा ही उदार राजा हुआ। उसने लाखों रुपया लगा कर उदयपुर में जगन्नाथराय (जगदीश) का मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा में लाखों रुपये खर्च किये। उसने अनेक बहु मूल्य दान किये, जिनमें से कल्पवृक्ष दान विशेष उल्लेखनीय है; क्योंकि कल्पवृक्ष की वेदी स्फटिक की बनी थी, मूल में नीलमणी (नीलम), मस्तक में वैडूर्यमणी (लहसनिया), तने में हीरे, शाखाओं में मरतक (माणिक) पत्तों में विद्रुम (मूंगे) फूलों के स्थान में मोतियों के गुच्छे और फलों के स्थान में भिन्न २ रत्न लगे हुए थे। उसके नीचे ब्रह्मा, शिव, विष्णु और कामदेव की मूर्तियां बनी थी। § उसने सैंकड़ों हाथी, हजारों

---

* 'तुजुके जहांगीरी' का अंग्रेजी, राजर्स और बेवरिज-कृत, अनुवाद; जि० १, पृ० २८५–८६।

† 'तुजुके जहाँगिरी का अंग्रेजी, राजर्स और बिवरिज-कृत अनुवाद; जि० १ पृ० २८५-८६

§ स्फाटिक्यां वेदिकायां कलयति भुवियो मूलदेशेपुनीलम्
वैडूर्य मस्तके द्राक् तदनु गुरु गुणान् हीरकान् स्कन्धकेषु।
मौलिस्ते शाखिकाग्रे मरकत मतुलं वैद्रुमान् पल्लवौघान्

घोड़े और बहुत से गांव दान किये। * प्रारंभ में वह प्रतिवर्ष अपनी जन्म गांठ के दिन चाँदी की तुला करता था † परंतु वि०सं० १७०५ से प्रतिवर्ष उस अवसर पर सोने की तुला करता रहा ‡। उसकी दानशीलता बहुत ही प्रसिद्ध है। उसके पीछे उसका ज्येष्ठ कुँवर राजसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर वि०सं० १७०६ कार्तिक वदि ६ को बैठा। उसने उसी वर्ष के मार्गशीर्ष मास में एकलिङ्गजी जाकर वहाँ रत्नों का तुलादान किया। ऐसा उक्त तुलादान के सम्बन्ध की प्रशस्ति से, जो थोड़े ही वर्ष पूर्व मिली है और जो इस समय उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित है, पाया जाता है। भारतवर्ष भर में रत्नों के तुलादान का यही एक प्राचीन लिखित प्रमाण मिला है। उसने राजसमुद्र नाम का प्रसिद्ध तालाब बनवाया,§ जिसमें १,०५,०७,५८४) रुपये व्यय हुए।

ऊपर उद्धृत किये हुए प्रमाणों से पाठकों को उदयपुर राज्य की समृद्धि का ठीक-ठीक अनुमान हो सकेगा। हम ऊपर बता चुके हैं कि महाराणा उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह को तो सम्पत्ति सञ्चित करने का अवकाश ही नहीं मिला। महाराणा कर्णसिंह अपने उजड़े हुए राज्य को आबाद करने में लगा रहा। महाराणा जगतसिंह और राजसिंह को बाहर कोई सम्पत्ति नहीं मिली। अतएव यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यह सारी सम्पत्ति कुंभा और सांगा की संग्रह की हुई थी और महाराणा प्रतापसिंह के समय में ज्यों की त्यों विद्यमान थी। ऐसी दशा में यह मानना कि प्रतापसिंह

मुक्ता गुच्छान्.........हयमाणी गोमत्फलः पंचशाखः ॥ ११० ॥
ब्रह्मा रुद्रोपि विष्णु स्तदनु रतिपतिः स्थापिता यस्य नीचैः
सोऽयं सत्कल्पवृक्षो पर तरु सहितः श्री जगत्सिंह हस्तत् ॥......॥ १११
जगन्नाथराय के मंदिर की प्रशस्ति।

* सिन्दुर द्वीधा सातसौ, हयवर पाँच हजार।
एकावन सासण दिया, जगपत जगदातार ॥ प्राचीन पद्य।

† 'राजप्रशस्ति' महाकाव्य; सर्ग ५, श्लोक ३४।

‡ वही, सर्ग ५, श्लोक ३५-३६।

§ तालाब के विशेष विवरण के लिये देखो मेरा 'राजपूताने का इतिहास'; जि० १, पृ० ३१०-११।

$ एका कोटिः पञ्चलक्षाणि रूप्य मुद्राणां वा सप्तसहस्राणि सप्त।
लग्नान्या स्मिन् षट्शतान्यष्टकं वै कार्ये प्रोक्तं पञ्च एव द्वितीये ॥२२॥
'राजप्रशस्ति' महाकाव्य; सर्ग २१।

के पास अकबर के साथ की लड़ाइयों के समय सेना का खर्च चलाने के लिये कुछ भी द्रव्य न था, जिससे वह मेवाड़ छोड़ कर सिन्ध में राज्य स्थापित करने को जा रहा था, परन्तु मन्त्री भामाशाह के अपनी सारी सम्पति नज़र करने पर वह पीछे अपनी मातृभूमि को लौट आया, सर्वथा निर्मूल है। कर्नल टाड का उपर्युक्त कथन, सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लिखा जाने के कारण, विश्वास के योग्य नहीं है। वस्तुतः महाराणा प्रताप बहुत सम्पतिशाली था और उसके पास धन की कोई कमी न थी। इससे वह तथा उसका पुत्र दोनों बरसों तक बादशाहों से लड़ने में समर्थ हुए थे।

त्यागभूमि (मा०प०) अजमेर, वर्ष, १ सं० १९८५

सम्पादकीय टिप्पण

[1]. भामाशाह का छोटा भाई ताराचंद था, वह भी वीरप्रकृति का पुरुष था। मेवाड़ के महाराणा प्रताप के स्वतंत्रता युद्ध में इस वीर ने भी पूर्ण शौर्य प्रकट किया था। ताराचंद सादड़ी (गोड़वाड़) का हाकिम था। वि० सं० १६४८ वैशाख सुदि ८ को उक्त वीर का महाराणा प्रताप के समय सादड़ी में रहते हुए परलोकवास हुआ और उसके साथ उसकी ४ स्त्रियां सती हुई। ऐसा उसके स्मारक लेख से पाया जाता है।

[2]. वीरविनोद में उल्लेख है कि वि०सं० १६०४ आषाढ़ सुदि १० सोमवार को भामाशाह का जन्म हुआ और ५१ वर्ष सात मास की आयु पाकर वह परलोक सिधारा। मरने के पूर्व अपनी स्त्री को एक बही अपने हाथ की लिखी हुई दी और कहा कि इसमें मेवाड़ के खज़ाने का कुल हाल लिखा हुआ है। जिस वक्त तकलीफ हो यह बही उन (महाराणा) के नज़र करना। यह खैरख्वाह प्रधान इस बही के लिखे हुए खज़ाने से महाराणा अमरसिंह का कई वर्षों तक खज़ाना चलाता रहा। मरने पर इसके बेटे जीवा शाह को महाराणा अमरसिंह ने प्रधाना दिया, वो भी खैरख्वाह आदमी था। लेकिन भामाशाह की सानी का होना कठिन था (भाग २, पृ० २५१)।

[3]. माननीय ओझाजी का बही मिलने आदि का कथन उपरोक्त वीरविनोद के आधार पर ही है। (सं० टि०)

७ राजा गिरधर कछवाहा

कछवाहों का राज्य पहले नरवर और ग्वालियर पर था। ग्वालियर के राजा मंगलराज कछवाहे के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र वज्रदामा तो अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकारी हुआ और उस (मंगल-राज) के छोटे पुत्र सुमित्र को जागीर मिली। सुमित्र के पांचवें वंशधर ईशासिंह ने धौसा में आकर वहाँ पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार राजपूताने में कछवाहों का प्रवेश हुआ और शनैः शनैः वे अपना राज्य बढ़ाते गये और पीछे से उनकी राजधानी आंबेर में स्थिर हुई। ईशासिंह का चौदहवां वंशधर राजा उदयकरण था, उसके पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र नरसिंह (बरसिंह) आंबेर का स्वामी हुआ। उस (नरसिंह) का छोटा भाई बाला और उसका पुत्र मोकल तथा पौत्र शेखा हुआ। शेखा के नाम से कछवाहों की शेखावत-शाखा प्रसिद्ध हुई। शेखा और उसके वंशजों ने अपने बाहुबल से एक विस्तृत स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, जो शेखावाटी नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग बहुत बढ़े, परन्तु पीछे से जयपुर राज्य ने उनको अपने आधीन कर लिया और उनके परस्पर के झगड़ों से लाभ उठाकर उनका बल तोड़ने के लिए खेतड़ी और सीकर के सिवा शेखावतों के सब ठिकानों ने यह नियम कर दिया कि एक सरदार के जितने पुत्र हों वे सब अपने पिता की जागीर का बराबर हिस्सा करलें।[१] इस प्रकार शेखावतों की जागीरों के अनेक विभाग हो गये।

शेखा का पुत्र रायमल हुआ। हुमायूँ से दिल्ली का राज्य छीनने वाले शेरशाह सूर का पिता हसनखाँ उक्त रायमल के दरबार में बहुत दिनों तक नौकर रहा था।[२] उक्त रायमल के पुत्र सूरजमल का पाँचवां बेटा रायसाल बहुत प्रसिद्ध हुआ।

---

१ कर्नल जे० सी० ब्रुक; पोलिटिकल हिस्ट्री आफ दी स्टेट आफ जयपुर; पृ० ६।

२ मुंशी देवीप्रसाद; हुमायूं नामा; पृ० २१।

रायसाल ने बादशाह अकबर की सेवा स्वीकार कर ली, और अपनी बुद्धिमानी से वह उसका इतना विश्वास-पात्र बन गया कि शाही जनानखाने का मुहाफ़िज़ (अध्यक्ष) नियत हुआ। यह बादशाह के दरबार में सदा उपस्थित रहता था, जिससे 'दरबारी' के ख़िताब से प्रसिद्ध हुआ। वि० सं० १६६२ (ई० स० १६०५) में उसका मनसब तीन हज़ारी हो गया। उसी वर्ष उदयपुर के महाराणा अमरसिंह को अधीन करने के लिए शाहज़ादा परवेज़ के साथ बादशाह जहाँगीर ने सैन्य भेजी, जिसमें रायसाल भी शामिल था[1]। फिर वह दक्षिण में नियत हुआ और वहीं उसका देहांत हो गया।

रायसाल दरबारी के पीछे उसके २१ पुत्रों में से सबसे बड़ा राजा गिरधर बादशाही सेवा में उपस्थित हुआ। वि० सं० १६७२ में जहांगीर ने दक्षिण में फ़ौज भेजी, जिसके साथ गिरधर को भी ८०० ज़ात और ८०० सवार का मनसब देकर भेजा।[2]

गिरधर की सेवा से प्रसन्न होकर वि० सं० १६७५ (ई० स० १६१८) में बादशाह (जहांगीर) ने उसका मनसब १००० ज़ात और ८०० सवार का[3] और संवत् १६७८ (ई० स० १६२१) में १२०० ज़ात और ६०० सवारों का कर दिया।[4] फिर दक्षिण से लौटने पर वि० सं० १६७६ (ई० स० १६२२) में राजा का ख़िताब और ख़िलअत देकर उसका मनसब दो हज़ार ज़ात और डेढ़ हज़ार सवार कर दिया गया।[5]

बादशाह जहांगीर अपने पिछले दिनों अपनी बेगम नूरजहां के हाथ की कठपुतली हो गया था, जिससे जो वह चाहती वही उससे करा लेती थी। नूरजहां ने अपने प्रथम पति शेर अफ़ग़न से उत्पन्न पुत्री का विवाह शाहज़ादे शहरयार से किया था, जिससे वह जहांगीर के पीछे उसको बादशाह बनाना चाहती थी; इसलिए वह शाहज़ादे ख़ुर्रम (शाहजहाँ) के विरुद्ध बादशाह के कान भरा करती थी। उसने उक्त शाहज़ादे को हिन्दुस्थान से बाहर इस अभिप्राय से भिजवाना चाहा की यदि वह उधर रहे तो शहरयार के लिये मार्ग सुगम हो जाय। उन्हीं दिनों ईरान के शाह अब्बास ने कन्धार का किला अपने अधीन कर लिया था, जिसको फिर से विजय करने के लिए नूरजहां ने ख़ुर्रम को वहां भेजने की सम्मति बादशाह को दी। बेगम के कथनानुसार बादशाह ने उसको बुरहानपुर से कन्धार जाने

---

१ अलेग्ज़ेण्डर रोजर्स-कृत तुज़ुके जहांगिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद; जिल्द १, पृ० १६-१७।
२ वही; जिल्द १, पृ० २६८।
३ वही; जिल्द २, पृ० ४४-४५।
४ वही; जिल्द २, पृ० २०६।
५ वही; जिल्द २, पृ० २५२।

की आज्ञा दी, परन्तु वह बेगम के प्रपञ्च से परिचित हो गया था और यह भी जानता था कि यदि हिन्दुस्थान का कोई भी हिस्सा मेरे अधिकार में न रहा तो मेरे लिए बादशाह बनने की कोई आशा न रहेगी। इसी विचार से उसने बादशाह की आज्ञा के अनुसार कन्धार जाना स्वीकार न किया, जिससे बादशाह ने उसे विद्रोही मान लिया और उसको सजा देने के लिए ४०,००० सवार और कई बड़े-बड़े अधिकारियों को दक्षिण में भेजा। उस समय गिरधर भी उक्त सेना के साथ दक्षिण में भेजा गया, जहाँ थोड़े ही दिनों बाद वि० सं० १६८० में उसने अपने प्राण परार्थ न्यौछावर कर दिये। इस विषय में स्वयं बादशाह जहांगीर अपनी दिनचर्या की पुस्तक में इस प्रकार लिखते हैं:—

"इन दिनों सूबे दक्षिण से बख्शी अकीदतखाँ की अर्ज़ी आई, जिसमें राजा गिरधर के मारे जाने का हाल इस तरह था। शाहजादा परवेज़ के नौकर बारहा के सैयद कबीर के एक भाई ने अपनी तलवार चमकीली बनाने और धार तेज़ कराने के लिए एक सिकलीगर को दी थी, जिसकी दूकान राजा गिरधर की हवेली के निकट थी। दूसरे दिन जब वह अपनी तलवार लेने को आया तो मजदूरी की बाबत बात-चीत करते हुए सैयद के नौकरों ने सिकलीगर के कुछ लाठियां मार दीं। राजा के नौकरों ने सिकलीगर की हिमायत कर सैयद के नौकरों को पीटा। संयोगवश बारहा के दो-तीन जवान सैयद, जो नज़दीक में रहते थे, उस सैयद की मदद को गये, जिससे लड़ाई की आग भड़क उठी और सैयदों तथा राजपूतों में तीर-तलवार चलने की नौबत पहुँच गई यह खबर पातेही सैयद कबीर तीस-चालीस सवारों के साथ उन सैयदों की मदद को पहुँचा। उस समय राजा गिरधर हिन्दुओं की रीति के अनुसार वस्त्र खोल कर अपने राजपूत भाई-बन्धुओं के साथ बैठ कर भोजन कर रहा था। सैयद कबीर के आने और सैयदों की ज्यादती की खबर पाने पर राजा गिरधर ने अपने आदमियों को हवेली में बुला लिया और उसका दर्वाज़ा बन्द करवा दिया। सैयदों ने दर्वाजे को जला कर हवेली में प्रवेश कर लिया, जिससे यहाँ ऐसी लड़ाई हुई कि राजा गिरधर अपने २६ सेवकों सहित मारा गया और ४० आदमी घायल हुए तथा ४ सैयद भी मारे गये। राज गिरधर क मारे जाने पर सैयद कबीर उसके तबेले से घोड़े लेकर लौट गया। अन्य राजपूत मनसबदार राजा गिरधर के मारे जाने की खबर पाते ही घोड़ों पर सवार होकर बड़ी संख्या में अपने-अपने डेरों से चले। उधर बारहा के तमाम सैयद भी कबीर की सहायता को आ पहुँचे क़िले के बाहर के मैदान में वे जमा हो गये, जिससे आपत्ति की आग भड़क कर बड़ा बखेड़ा होने वाला ही था कि इतने में यह खबर महाबतखां[1] के पास पहुँची। वह तुरन्त सवार

---

[1] उसका असली नाम जमानबेग था। यह काबुल के रहने वाले गोरबेग का पुत्र था। बादशाह अकबर के समय उसका मनसब ५०० का था, परन्तु जहांगीर के समय वह बहुत प्रसिद्ध हो गया और बादशाह के अफ़सरों में सर्वोपरि गिना जाने लगा। उसका देहांत ई० स० १६३४ में दक्षिण में हुआ।

होकर वहाँ आ गया और सैयदों को किले में लाकर राजपूतों की समयानुकूल सान्त्वना कर दी, और उनके कई एक मुखियों को अपने साथ लेकर खान आलम के यहाँ पहुँचा, जो निकट ही था। उसने अच्छी तरह उनको शांत कर इस विषय की तहक़ीक़ात करने का ज़िम्मा अपने पर लेने का वचन दिया। जब इसके समाचार शाहज़ादे (परवेज़) को मिले तो वह खान आलम के डेरे पर पहुँचा और समयानुसार राजपूतों को तसल्ली देकर उन्हें अपने डेरों पर भेज दिया। दूसरे दिन महाबतख़ां ने राजा गिरधर की हवेली पर पहुँच कर उसके पुत्रों को दिलासा देते हुए शोक प्रकट किया और सैयद कबीर को पकड़वा कर कैद करदिया। राजपूत लोग "सैयद कबीर को मारे बिना शांत नहीं होते थे, इसलिए कुछ दिनों बाद उसने उसका शिरच्छेद करवा दिया।"[1]

इस प्रकार सैयदों के ज्यादती करने तथा राजा गिरधर की हवेली के दर्वाज़े के किवाड़ जला या तोड़ कर भोजन करते हुए राजपूतों पर टूट पड़ने से राजपूतों की विशेष हानि हुई, तोभी उस समय वहाँ रहने वाले अन्य राजपूत मनसबदारों की एकता के कारण ही सैयद कबीर को प्राणांत-दंड दिये जाने की सज़ा हुई। यह एक प्रकार से वहाँ के शासक की न्यायपरायणता का एक अच्छा उदाहरण है।

राजा गिरधर का उत्तराधिकारी उसका पुत्र द्वारकादास भी बड़ावीर राजपूत था, जिसको शाहजहाँ के राज्य के पहले वर्ष (वि० सं० १६८५) में एक हजार ज़ात और ८०० सवार का मनसब मिला था।[2] दो वर्ष पीछे दक्षिण के निज़ामुलमुल्क पर की चढ़ाई में उसने ऐसी वीरता दिखलाई कि बादशाह ने उसकी बहादुरी से प्रसन्न होकर १५०० ज़ात और हज़ार सवार का मनसब दिया।[3] फिर संवत् १६८७ में ख़ांजहां लोदी की चढ़ाई के समय वीरता से लड़ता हुआ तीर के लगने से वह मारा गया। उसका पुत्र नरसिंहदास भी अच्छा वीर था, जिससे उसका मनसब भी ८०० ज़ात और ८०० सवार तक पहुँच गया था, और वह काबुल तथा बरार के किलों का सूबेदार भी रहा था।

इस समय राजा गिरधर के वंश में जयपुर राज्य के खंडेला (दोनों विभाग), कूकड़ो और दांता के सरदार हैं।

त्यागभूमि (मा० प०) खंड २, अंश १, सं० १६८५

---

१ तुज़ुके जहांगीरी का अंग्रेजी अनुवाद; जिल्द २, पृ० २८२-८४।

२ मुंशी देवीप्रसाद; शाहजहां नामा; भाग १, पृ० ८।

३ वही; भाग १, पृ० ३३।

अनीराय सिंहदलन

राजपूत–जाति का इतिहास वीरता, आत्मत्याग, दूसरों की रक्षा में प्राण देने, स्वामि-भक्ति आदि के अनेक उत्तम उदाहरणों से भरा पड़ा है। हम "त्यागभूमि" के पाठकों के मनोरंजनार्थ अनूपसिंह (अनीराय सिंहदलन) का संक्षिप्त परिचय नीचे देते हैं।

अनीराय बड़गूजर-वंश का राजपूत था। उसके पूर्वज जमींदार थे; परन्तु उसका दादा गरीब हो जाने के कारण, बहुधा हरिणों को मार-मार कर उनके मांस से अपने कुटुंब का पालन किया करता था। एक दिन जंगल में, शिकार के समय, एक जानवर को बाघ समझ कर उस पर गोली चलाई, जिससे उसका काम तमाम होगया। पास जाकर उसके गले में सोने की घंटी और जंजीर देख कर उसने जान लिया कि वह बादशाह अकबर का शिकारी चीता है। इस प्रकार अपने हाथ से शाही चीता मारे जाने के कारण वह भयभीत होगया और उस अपराध से बचने के लिए उस चीते को एक कुँए में डाल दिया और उसकी जंजीर व घंटी लेकर अपने घर चला गया। शिकारी लोगों ने इधर-उधर चीते की तलाश की तो एक कुँए में उसकी लाश पड़ी पाई।। फिर वे पैरों के निशान के आधार पर उस राजपूत के घर पहुँचे। उसके घर की तलाशी लेने पर चीते की घंटी और जंजीर भी उन्हें मिल गई। वे इसको पकड़कर बादशाह के पास ले आये। बादशाह के पूछने पर जब उसने सारा हाल सच-सच निवेदन कर दिया, तो बादशाह ने उसकी हिम्मत और निशाना लगाने की कुशलता से प्रसन्न होकर उसे अपनी सेवा में रख लिया और शिकार में अधिक रुचि होने के कारण उसको उचित पद पर नियत किया। उसका पुत्र वीरनारायण हुआ जिसने अपने पिता से भी उच्चतर पद पाया। वि० सं० १६८५ में उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के गद्दीनशीन होने पर बादशाह शाहजहाँ ने राज्य-तिलक के उपलक्ष्य में पांच हजारी जात, पांच हजार सवार के मन्सब का फरमान, राणा का खिताब, खिलअत, जड़ाऊ खपवा (एक प्रकार का शस्त्र), खासा घोड़ा और खासा हाथी और चाँदी का सामान देकर इसी वीरनारायण को उदयपुर भेजा।[1] उसका पुत्र अनूपसिंह हुआ,

---

१ मुंशी देवीप्रसाद; शाहजहांनामा; भाग १, पृ० १०-११।

जो पीछे से अनीरायसिंह दलन के खिताब से प्रसिद्ध हुआ। अकबर के अन्तिम दिनों में वह खवासों का अफसर बनाया गया। जहाँगीर के समय कुछ काल तक वह उसी पद पर नियत रहा[१]। अपने राज्य के पांचवें वर्ष में (वि० सं० १६६७) एक दिन बादशाह जहाँगीर बाड़ी के परगने में चीतों का शिकार करने में लगा हुआ था। उक्त प्रसंग के सम्बन्ध में बादशाह अपनी दिनचर्या में लिखता है—"मुझसे थोड़े अन्तर पर अनूपसिंह शिकारियों के साथ खड़ा था। उसने कुछ दूर पर चीलों को एक वृक्ष पर बैठे हुए देखा, और धनुष तथा बिना फल वाले तीर लेकर उधर बढ़ा। उस वृक्ष के निकट आधा खाया हुआ बैल उसे नज़र आया। उसके समीप ही झाड़ी में से एक बड़ा और प्रबल शेर निकल आया। यद्यपि शाम होने को दो घड़ी से ज्यादा समय नहीं था, तथापि उसने और उसके साथियों ने शेर को घेर लिया; क्योंकि वे मेरे शेर के शिकार के शौक़ को जानते थे। उसे घेर कर मेरे पास उसने खबर देने के लिए एक आदमी भेजा। मैं यह सुनते ही घोड़े पर सवार होकर उधर चला और बाबाखुर्रम, रामदास, एतमादराय, हयातखां तथा एक-दो और आदमी मेरे साथ चले। पहुंचने पर मैंने देखा कि शेर वृक्ष की छाया में बैठा हुआ है। मैंने उस पर घोड़े पर से निशाना लगाने का विचार किया, परन्तु मेरा घोड़ा चंचल था, इसलिए मैंने उससे उतर कर शेर पर निशाना लगाया। मैं कुछ ऊँची जगह पर खड़ा था, इसलिए मैं जान न सका कि गोली उसके लगी या नहीं। मैंने एक गोली और चलाई और मेरा खयाल है कि वह गोली उसके लगी भी। शेर उठ कर दौड़ा और एक पास के शिकारी को घायल कर पीछे अपनी जगह जा बैठा। मैंने दूसरी बन्दूक तिपाये पर रखकर तोली। अनूपराय तिपाये को पकड़े खड़ा था। उसकी कमर में एक तलवार और हाथ में एक लम्बी लाठी (आसा)[२] थी। बाबाखुर्रम बाईं ओर कुछ अन्तर पर था और रामदास तथा दूसरे नौकर उसके पीछे। कमाल किरावल ने बन्दूक भर कर मेरे हाथ में दी। मैं चलाने वाला था कि इतने में गर्जना करता हुआ शेर हम पर झपटा। मैंने बन्दूक चलाई, गोली उसके मुँह और दांतों में होकर निकल गई। बन्दूक की आवाज़ से वह और भी अधिक क्रुद्ध हो गया। बहुत

---

१ 'मआसिरुलउमरा' का एच. बैवरिज-कृत अंग्रेज़ी अनुवाद; पृष्ठ २६१-६२।

२ बादशाही दरबार में या बादशाह के समक्ष शाहज़ादों को छोड़कर राजा या मन्सबदार आदि बैठने नहीं पाते थे। उन्हें घंटों तक खड़ा रहना पड़ता था। इसलिए वे अपने साथ अर्धचन्द्राकार अग्रभाग वाली एक लाठी रखते थे। खड़े-खड़े थक जाने पर सहारे के लिए बगल के नीचे उसे रख देते थे।

सेवक, जो वहाँ थे, डर कर एक दूसरे पर गिर गये। मैं उसके धक्के से दो-एक क़दम पीछे जा गिरा। मुझे यह निश्चय है कि दो-तीन आदमी मेरी छाती पर पाँव रख कर मेरे ऊपर से निकल गये। मैं एतमादराय और कमाल किरावल के सहारे खड़ा हुआ। शेर बाईं तरफ़ खड़े होने वालों पर झपटा। अनूपराय तिपाये को हाथ से छोड़कर उसके सामने गया। शेर जिस तेज़ी से आया, उसी तेज़ी से वह उस पर लपका। उस पुरुष-सिंह ने भी वीरता से सामने जाकर दोनों हाथों से एक लाठी उसके सिर पर मारी। शेर ने मुँह फाड़कर उसके दोनों हाथ चबा डाले; परन्तु उसके हाथ में लाठी और कड़े होने से उसे बड़ा सहारा मिला, और उसके हाथ बेकार न हुए। अनूपराय उसके धक्के से उसके दोनों पैरों के बीच में गिर गया। उसका मुंह शेर की छाती के नीचे था। बाबा खुर्रम और रामदास अनूपराय की सहायता को बढ़े। खुर्रम ने शेर की कमर में तलवार मारी रामदास ने भी तलवार के दो वार किये जिनमें से एक उसके कंधे पर पूरा बैठा। हयातखां ने एक लाठी शेर के सिर पर ज़ोर से लगाई। अनूपराय ने बल से अपने हाथ उसके मुख से छुड़ाकर उसके जबड़े पर दो-तीन घूँसे मारे और करवट लेकर वह घुटने के बल उठ खड़ा हुआ। शेर के दांत उसके हाथों के आर-पार हो गये थे। इसलिए उसके मुँह से खींचते समय वे फट गये थे। शेर के पंजे उसके दोनों कन्धों पर लग गये थे। जब वह खड़ा हुआ, तो शेर भी खड़ा हो गया और अपने पंजों से छाती में प्रहार किया, जिसकी पीड़ा कुछ दिनों तक बनी रही। ज़मीन ऊँची-नीची होने से वे दोनों कुश्ती लड़ते हुए, पहलवानों की तरह लुढ़कते हुए, एक दूसरे के ऊपर-नीचे होते गये। उस समय मैं समान-भूमि पर खड़ा था। अनूप-राय कहता था कि मुझे सर्व-शक्तिमान ईश्वर ने ऐसी बुद्धि दी, कि मैं शेर को बादशाह से दूर लेगया। फिर शेर उसको छोड़कर भागने लगा। फिर वह (अनूपराय) खड़ा होकर उसके पीछे दौड़ा और उसके सिर में तलवार का प्रहार किया। जब शेर ने उसकी ओर मुँह किया तो अपनी तलवार का दूसरा वार उसके मुँह पर किया कि जिससे उसकी आंखों पर की चमड़ी लटक गई। इतने में दैवयोग से दीपक बतलाने वाला साली नाम का एक आदमी एक बगल से निकला और अकस्मात् शेर के सामने आगया। शेर ने एक पंजे से उसपर ऐसा प्रहार किया कि वह गिर कर वहीं मर गया। तत्पश्चात् दूसरे लोगों ने आकर शेर को मार डाला। अनूपराय ने मेरी सेवा बजाने के लिए अपनी जान किस तरह जोखम में डाली, यह बात मैंने अपनी आँखों से देखी थी। इसलिये जब वह अच्छा होने पर मेरे पास उपस्थित हुआ, तो मैंने उसको अनीराय सिंहदलन के खिताब में सम्मानित किया। हिन्दी में अनीराय का अर्थ सेना का नेता होता है। मैंने उसको अपनी तलवारों में से एक खास तलवार बख्शी और उसका मन्सब बढाया।"[1]

---

१ 'तुज़ुके जहांगीरी' का रोजर्स और बैवेरिज-कृत अंग्रेज़ी अनुवाद; जिल्द १, पृष्ठ १८५-८८।

इस प्रकार अपनी असाधारण निर्भीकता और वीरता के कारण वह बादशाह का बड़ा ही विश्वासपात्र होगया। ठट्ठा के हाकिम मिर्ज़ा रुस्तम की प्रजा पर अत्याचार करने की शिकायत पहुंची तो बादशाह ने उसकी जाँच करने का काम अनीराय के सुपुर्द किया[1]। शाहज़ादा खुसरो भी, जो बादशाह के पास कैद था, कुछ समय तक उसकी अध्यक्षता में रक्खा गया था। बादशाह ने अपने राज्य के दसवें वर्ष (वि० सं० १६७२) पुष्कर में वराहघाट के सामने वाले तट की तरफ़ वर्त्तमान स्मशानों के निकट अनीराय की अध्यक्षता में एक महल बनवाया।[2]

बादशाह ने अपने राज्य के बारहवें वर्ष (वि० सं० १६७४) में उसका मन्सब बढ़ाकर १,५०० ज़ात और ५०० सवार का कर दिया।[3] फिर अपने राज्य के तेरहवें वर्ष (वि सं० १६-७५) १०० मुहरों के मूल्य का घोड़ा उसे बख्शा। वि० सं० १६७६ में बादशाह ने उसका मन्सब बढ़ाकर २,००० ज़ात और १,६०० सवार का कर दिया। उसी वर्ष बादशाह ने शेख अहमद को, जो अपने चेलों की मार्फ़त सरहिंदके इलाक़े में धर्म के नाम से लोगों में बुरी बातें फैला रहा था और जो घमण्ड के मारे बादशाह के प्रश्नों का उत्तर ठीक-ठीक नहीं देता था, अनीराय की निगरानी में ग्वालियर के किले में क़ैद रक्खा। अपने राज्य के पन्द्रहवें वर्ष बंगश की चढ़ाई में महावतखाँ की शिफ़ारिस से बादशाह ने उसको सेनापति नियत किया।[4] 'मआसिरुलउमरा' का कर्त्ता लिखता है कि एक दिन जहाँगीर ने अनीराय की किसी बात पर ऐतराज़ किया, जिस पर उसने फ़ौरन कमर से जम-धर निकाल कर अपने पेट में दे मारा—परन्तु उसे हलका घाव लगा। उस दिन से उसका दर्जा और प्रभाव बहुत बढ़ गया।[5] जहाँगीर ने वि० सं० १६७३ में उसे कांगड़े का हाकिम नियत

---

१ वही; जिल्द १, पृष्ठ २६२-६३

२ पुष्कर में एक दूसरे के निकट जीर्ण-शीर्ण और बिगड़ी हुई दशा में जहांगीर के समय के बने हुए दो महल हैं, जिनमें से एक के द्वार पर फ़ारसी लिपि का हि०स० १०६४ का शिलालेख लगा हुआ है। उससे पाया जाता है कि वह महल अनीराय सिंहदलन की अध्यक्षता में बना था। (हरविलास सारडा; अजमेर हिस्टोरिक एण्ड डिस्क्रिप्टिव; पृष्ठ १४४-४५)।

३ 'तुज़ुके जहांगीरी' का अंग्रेज़ी अनुवाद; जि० १ पृ० ३७३।

४ 'तुज़ुके जहांगीरी' का अंग्रेज़ी अनुवाद; जिल्द २,पृष्ठ२८१,६३ और १५५।

५ मआसिरुलउमरा' का अंग्रेज़ी अनुवाद; पृष्ठ २६३।

किया।[1]

जहाँगीर के बाद, शाहजहाँ ने भी उसका सन्मान रक्खा। शाहाजहाँ ने अपने राज्य के तीसरे वर्ष में उसके पिता राजा वीरनारायण के मरने पर अनीराय को राजा का खिताब दिया और उसका मन्सब तीन हजारी जात व १५०० सवार कर दिया। शाहजहाँ ने भी उसे कई लड़ाईयों में सेनापति नियत करके भेजा[2]।

वीर-प्रकृति अनीराय साहित्य में भी रुचि रखता था। उसका हस्त-लेख भी बहुत अच्छा था। शाहजहाँ के शासन-काल के दसवें वर्ष (वि० सं० १६६३) में उसका देहांत हुआ।[3] उसके बाद उसका पुत्र जयराम बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ।

खेद का विषय है कि बड़गूजरों की ख्यात में इस वीर पुरुष का कोई वृत्तान्त न मिला। इसीसे लाचार फारसी तवारीखों से यह संग्रह करना पड़ा।

त्यागभूमि (मा० प०) अजमेर वर्ष १, ई० सं० १६२८

---

१ मुंशी देवीप्रसाद; जहांगीरनामा; पृष्ठ ५६५।

२ 'मआसिरुल उमरा' का अंग्रेजी अनुवाद; पृष्ठ २६३।

३ वही; पृष्ठ २६३।

६. मुँहणोत नैणसी

नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग २, पृ० २५१-२६७ में, अजमेर के गवर्नमेंट-कॉलेज के इतिहास के अध्यापक पं० प्रेमवल्लभजी जोशी एम्० ए०, बी० एस्-सी० ने "बूंदी का सुलहनामा"-नामक विस्तृत लेख लिखकर यह बतलाने का यत्न किया था कि "उदयपुर के महाराणा के क़िले रणथंभोर पर जब वि० सं० १६३० में बादशाह अकबर ने चढ़ाई की,[1] उस समय महाराणा की तरफ़ से उस क़िले के रक्षक बूँदी के राव सुरजन हाड़ा थे। राव सुरजन ने बादशाह से एक सुलहनामा लिखवाकर क़िला उसे सौंप दिया।" जोशीजी ने अपने लेख में कर्नल टॉड और पं० लज्जारामजी शर्मा के उक्त अहदनामे के कथन को निर्मूल बतलाने के लिये उसकी एक-एक शर्त की जाँच की और फ़ारसी के अनेक ग्रंथों के प्रमाण उद्धृत करने के अतिरिक्त नैणसी की ख्यात का भी उल्लेख किया। परन्तु वहाँ नैणसी की जाति का उल्लेख नहीं किया। इसके बाद जनवरी सन् १९२५ के "कलकत्ता रिव्यू"- नामक पत्र में जोशीजी ने उसी संबंध में एक लेख अँग्रेज़ी में प्रकाशित कराया, यह माधुरी वर्ष ४, खंड १, पृ० १३३ से ज्ञात हुआ! हमने जोशीजी का अँग्रेज़ी-लेख नहीं पढ़ा, परन्तु माधुरी की उक्त संख्या में लिखा है कि "आपने मरणहठ नैणसी-रचित एक ग्रंथ का और भी प्रमाण दिया है। यह ग्रंथ एक राजपूत-चारण का बनाया हुआ है, और संवत् १७२५ में संपूर्ण हुआ था।" इस कथन में "मरणहठ" और "राजपूत-चारण" ये दोनों शब्द वास्तव में खटकते हैं। परन्तु जब तक मूल अँग्रेज़ी-लेख देखने में न आवे, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि इन शब्दों का प्रयोग जोशीजी ने किया है अथवा अँग्रेजी वर्णमाला की अपूर्णता से या लेखक के दोष से ऐसा हुआ। 'मरणहठ' शब्द[1] तो मुँहणोत का बिगड़ा हुआ रूप है, किंतु 'राजपूत-चारण' शब्द ठीक नहीं है; क्योंकि चारण जाति राजपूतों से बिल्कुल भिन्न है। मुँहणोत नैणसी, जिसको मेहता या मूँता नैणसी भी कहते हैं, ओसवाल जाति का महाजन और जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) का दीवान था।

माधुरी वर्ष ४, खंड १, संख्या ५, पृष्ठ ६५९-६० में श्रीमान् पं० लज्जारामजी शर्मा का "राव सुरजन और अकबर"-शीर्षक लेख भी छपा है। उसमें लिखा है—"अब मुझे यह प्रश्न ऐसा

स्वरूप पकड़ते दिखलाई देता है, जिसमें जोशीजी महाराज के न्यायालय में बूँदी का इतिहास बिल्कुल झूठा अथवा भाटों की कहानी ठहरा दिया जाय। बस, इसी विचार से मेरे लिये यह आवश्यक है कि मैं इसका स्पष्टीकरण करदूं।" श्रीमान् लज्जारामजी का लेख केवल डेढ़ पृष्ठ का है, जोशीजी की प्रत्येक दलील का स्पष्टीकरण होना चाहिए था, पर वह नहीं हुआ। मेरे इस लेख का संबंध मुँहणोत नैणसी से है, इसलिये जोशीजी की दलीलों पर कुछ भी यहाँ कहना अनावश्यक है।

माधुरी वर्ष ४, खंड १, पृ० १३३ में लिखा है-"इस संबंध में हम मेहता लज्जारामजी, लाला सीतारामजी तथा पंडित गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा से बहुत कुछ आशा करते हैं।" परन्तु प्रथम तो वाद-विवाद में उतरना मुझे पसंद नहीं, और शारीरिक अस्वस्थता आदि कारणों से उस विषय में इस समय मैं कुछ भी नहीं लिख सकता। 'मेरे राजपूताने के इतिहास' में जहाँ यह प्रसंग आवेगा, वहाँ इस संबंध में अपने विचार प्रकट करूँगा।

श्रीमान् मेहता लज्जारामजी ने अपने लेख में यह भी लिखा है-"कोई कारण दिखलाई नहीं देता, जिससे नैणसी की ख्यात को वेद-वाक्य मानकर बूँदी का इतिहास झूठा ठहरा दिया जाय। माधुरी के नोट में नैणसी को राजपूत-चारण स्वीकार किया गया है। किंतु यदि वह राजपूत था, तो चारण नहीं, और चारण था तो राजपूत नहीं; क्योंकि दोनों अलग-अलग जातियाँ हैं। चारण नैणसी सच्चा था, तो चारण-कविराज सूर्यमल्लजी झूठे क्योंकर साबित हुए, जिन्होंने बूँदी का इतिहास 'वंश-भास्कर' लिखते समय, समय-समय पर बूँदी-नरेशों को बहुत बुरी तरह से फटकारा है।"

मुँहणोत नैणसी किस जाति का था, यह तो मै ऊपर बतला ही चुका हूँ, परंतु मिश्रण सूर्यमल्लजी तथा मुँहणोत नैणसी के ग्रंथ आदि के संबंध में कुछ कहना भी आवश्यक है। मिश्रण सूर्यमल्लजी एक असाधारण कवि थे. संस्कृत, प्राकृत. डिंगल आदि भाषाओं के पूरे ज्ञाता और बड़े ही सत्यवक्ता थे। लालच, लोभ और खुशामद को तो उन्होंने कभी अपने पास फटकने नहीं दिया। उनकी विद्वत्ता, उनकी अनुपम कविता और कविता से संबंध रखनेवाले समस्त विषयों के संबंध में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखलाने के समान है। सूर्यमलजी वास्तव में कविता के सूर्य ही थे और उनका वृहत् पद्य ग्रंथ 'वंश-भास्कर' चारण कवियों की कीर्ति का कीर्ति-स्तम्भ है। उनके उत्तम गुणों की बातें ज्यों-ज्यों अधिक सुनने में आती है, त्यों-त्यों उनके प्रति अधिक श्रद्धा तथा भक्ति उत्पन्न होती है। 'वंश-भास्कर' बूँदी के महाराज रामसिंह के आश्रय में बना था। रामसिंहजी वर्तमान महाराज रघुवीरसिंहजी के पिता थे। रामसिंहजी वि० सं० १८७६ में बूँदी के राज सिंहासन पर बाल्यावस्था में बैठे थे और उनका देहांत वि० सं० १८४५ के प्रारंभ में हुआ था। अतएव वंश-

भास्कर का रचना-काल विक्रम संवत् की २० वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना होगा। अस्तु, उन्होंने वंश-भास्कर में बूँदी के इतिहास का बड़े विस्तार के साथ संग्रह किया है और राजपूताने के अन्य राज्यों के संबंध में भी उन्होंने प्रसंगानुसार बहुत कुछ लिखा है। तो भी जैसे मेहता लज्जारामजी नैणसी की ख्यात को वेद-वाक्य नहीं मानते, वैसे सूर्यमल्लजी का 'वंश-भास्कर' भी वेद-वाक्य नहीं है। सूर्यमल्लजी की सत्यता पर तनिक भी संदेह करना कुचेष्टा ही है। परन्तु इतिहास की शुद्धता के लिये यह कहना ही पड़ता है कि सूर्यमल्लजी का लिखा हुआ उनके समय का तथा उनसे सौ--दोसौ वर्ष पूर्व का इतिहास विशेष आदरणीय हैं। उस समय से पूर्व के इतिहास के लिये उनको भाटों की ख्यातों पर ही भरोसा करना पड़ा। क्योंकि उन्हें चौहानों, परमारों, पड़िहारों, सोलंकियों आदि के इतिहास से संबंध रखने वाले अनेक प्राचीन संस्कृत-ग्रंथ, शिलालेख और दानपत्र मिल नहीं सके। इसी से उन्होंने भाटों से जो कुछ मिला, उसी पर अपने प्राचीन इतिहास की नींव रक्खी। उन्होंने 'पृथ्वीराज-रासो' की अशुद्धियाँ भी बतलाई हैं। वि० सं० १५०० के पूर्व के इतिहास के लिये भाटों की ख्यातें सर्वथा आदरणीय नहीं है, क्योंकि उनमें झूठी वंशावलियाँ अप्रमाणिक संवत् और अतिशयोक्ति के साथ लिखे हुए या मन गढंत वर्णन मिलते हैं, जिनको इतिहास कहना निरर्थक है। उनमें परंपरागत सुने हुए कुछ नाम अवश्य शुद्ध हैं परंतु विशेष कृत्रिम ही हैं। हमने 'वंश-भास्कर', सिरोही और नीमराणा के बड़वों की पुस्तकों से चाहमान (चौहान) से लगा कर प्रसिद्ध हिंदू-सम्राट पृथ्वीराज तक की चौहानों की वंशावलियों का मिलान किया, तो यह पाया कि 'वंश-भास्कर' में चाहमान से पृथ्वीराज तक १७७, सिरोही के बड़वों की ख्यात में ६८३ पुश्तें दी हैं, जिनमें थोड़े से नामों को, जो 'पृथ्वीराज-रासो' से लिए गए हैं, छोड़ कर बाक़ी सब के सब नाम परस्पर मिलते ही नहीं। ऐसी दशा में ये वंशावलियाँ कैसी हैं, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। पृथ्वीराज के समय में काश्मीरी कवि जयानक ने 'पृथ्वीराज-विजय-महाकाव्य' लिखा, जिस पर काश्मीर के इतिहास, 'द्वितीय राजतरंगिणी' के कर्ता जोनराज ने टीका लिखी, और जिसके बीस से अधिक श्लोक स्वयं जयानक के भाई जयरथ के रचित 'अलंकार विमर्षिणी' और 'अलंकार सर्वस्व' में ज्यों के त्यों मिलते हैं। पृथ्वीराज-विजय में चाहमान से लगा कर पृथ्वीराज तक २८ नाम दिए हैं। शेखावाटी के हर्ष-नाथ के मंदिर में लगी हुई चौहान राजा विग्रहराज की वि० सं० १०३० की बड़ी प्रशस्ति में प्रथम गूवक से लगा कर विग्रहराज तक ७ नाम दिए हैं, जो पृथ्वीराजविजय में ज्यों-के-त्यों मिल जाते हैं। इसी तरह चौहान राजा दुर्लभराज के समय के वि० सं० १०५६ के, किनसरिया (जोधपुर राज्य) के, बड़े शिलालेख में जो चौहान राजों के नाम दिए हैं, वे भी पृथ्वीराज विजय में क्रमशः मिल जाते हैं। ऐसे ही बीजोलिया (मेवाड़) के पास की पाषाण की एक बड़ी चट्टान पर पृथ्वीराज के

पिता सोमेश्वर के समय का वि०. सं० १२२६ का शिला- लेख खुदा हुआ है, जिसमें चाहमान से सोमेश्वर तक की जो वंशावली दी है, उसके सब नाम पृथ्वीराजविजय में दिए हुए नामों से ठीक मिल जाते हैं, भाटों की ख्यातों से नहीं। इससे इतिहास-प्रेमी विचार कर सकते हैं कि भाटों की ख्यातें आदरणीय हैं, अथवा पृथ्वीराजविजय और उपर्युक्त शिलालेख। राजपूताने में प्राचीन शोध का काम करते हुए मुझे चौहानों के एक सौ से अधिक शिला-लेख और दान-पत्र मिल गए हैं, जिनसे मूल चौहान वंश एवं उसकी शाखा-प्रशाखाओं की वंशावलियाँ बहुत कुछ शुद्ध हो सकती हैं और कितने ही राजों के निश्चित् संवत् भी ज्ञात हो जाते हैं। उनसे भी पृथ्वीराजविजय की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसी तरह अन्य वंशों के इतिहास से संबंध रखने वाली प्राचीन संस्कृत-पुस्तकों, शिला-लेखों और ताम्र-पत्र आदि से उनका भी शुद्ध इतिहास बन सकता है। उदाहरण के लिये मेरे लिखे हुए "सोलंकियों का प्राचीन इतिहास" का प्रथम भाग देखिए। यह केवल प्राचीन खोज द्वारा प्राप्त सामग्री के आधार पर ही लिखा गया है। उसमें जिन-जिन सोलंकी राजों के नाम तथा उनका शृँखलाबद्ध इतिहास लिखा गया है, उनमें से एक भी नाम सोलंकियों की किसी भाट की वंशावली में नहीं है। ऐसी दशा में मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि इस समय तक जो प्राचीन इतिहास की सामग्री उपलब्ध हुई है, वह यदि सूर्यमल्लजी के समय में उपलब्ध होती, तो उनके जैसा सत्यवक्ता कवि, भाटों की ख्यातों पर सर्वथा विश्वास नहीं करता, और उनका लिखा हुआ प्राचीन इतिहास और ही रूप धारण करता। परंतु खेद की बात है कि उनके 'वंश-भास्कर' लिखते समय तक वैसी सामग्री उपस्थित नहीं थी। इससे उनको लाचार होकर भाटों की ख्यातों पर ही अपने ग्रंथ में दिए हुए प्राचीन इतिहास की नींव डालनी पड़ी। उनका लिखा हुआ प्राचीन इतिहास आदरणीय नहीं है। पर इसके लिये उनको दोषी नहीं ठहरा सकता; क्योंकि जैसा उनको मिला, वैसा ही उन्होंने अपने ग्रंथ में उद्धृत किया। उनके समय से सौ–दोसौ वर्ष पूर्व की बातें भी जैसी उन्होंने सुनी या उनको मिली; वैसी ही उन्होंने लिखी है।

अब मैं मुँहणोत नैणसी और उसकी ख्यात का भी पाठकों को कुछ परिचय कराता हूँ। मुँहणोत-खानदान के ओसवाल, जैसलमेर की तरफ़ से आकर जोधपुर के राजाश्रय में दाखिल हुए थे। मुँहणोत नैणसी, मुँहणोत जयमल का पुत्र और महाराज जसवंतसिंह (प्रथम) की सेना में था। सं० १७१४ में महाराज ने उसे अपना दीवान बनाया। फिर संवत् १७२३ की पौषकृष्णा ६ को महाराज का डेरा औरँगाबाद हुआ। उस समय मुँहणोत नैणसी और उसका भाई सुँदरदास, दोनों उनके साथ थे। किसी भी कारण से महाराज नैणसी से अप्रसन्न हो गए थे, जिससे उन दोनों को क़ैद कर लिया गया। फिर सं० १७२५ में उन्हें लाख रुपए का दण्ड देकर छोड़ दिया गया, परन्तु

उन्होंने एक पैसा तक देना स्वीकार न किया, जिस पर संवत् १७२६ की माघ-कृष्णा १ को वे फिर कैद कर लिए गए। नैणसी के दंड के लाख रुपयों के विषय में नीचे लिखे हुए दोहे राजपूताना में अब तक प्रसिद्ध हैं—

लाख लखाराँ नीपजे, वड़ पीपल री साख।
नटियो मूंतो नैणसी, ताँबो देण तलाक॥
लेसो पीपल लाख, लाख लखाराँ लावसो।
ताँबो देण तलाक, नटियो सुंदर नैणसी॥ १

फिर महाराज ने इन दोनों भाइयों को कैदी की हालत में जोधपुर रवाना किया और उन पर रुपयों के लिये सख्ती होती रही, जिससे मार्ग में ही सं० १७२७ की भाद्रपद-कृष्णा १३ को पेट में कटार मार कर ये दोनों मर गए। इस प्रकार नैणसी की जीवन-लीला समाप्त हुई। नैणसी और उसका भाई सुंदरदास, दोनों मुतसद्दी होने के अतिरिक्त वीर-प्रकृति के पुरुष थे और लड़ाइयाँ भी लड़े थे। नैणसी को वीर-कथाओं के साथ इतिहास से भी बड़ी रुचि थी, जिससे दीवान होने के पहले भी वह ऐतिहासिक बातें, जहाँ से मिल सके, वहाँ से एकत्र किया करता था। जोधपुर-राज्य का दीवान होने के पीछे तो उसको इतिहास का संग्रह करने में और सुवीता रहा होगा। उसने अपने इतिहास में कई जगह जो-जो ऐतिहासिक बातें जिस-जिसके द्वारा प्राप्त हुईं या जिन्होंने लिख भेजी, उनका नाम, संवत्, महीना आदि का भी उल्लेख किया है, जिससे विदित होता है कि नैणसी ने वि० सं० १७०५से१७२५ तक अपने इतिहास का संग्रह किया था। उस समय उसकी अवस्था कितने वर्ष की रही होगी, यह तो निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसका जन्म-संवत् ज्ञात नहीं होसका, तो भी यह तो निश्चित है कि वि० सं० १७१४ में वह दीवान के पद पर नियुक्त हुआ था। कई वर्षों तक राज्य की सेवाकर विशेष अनुभव प्राप्त किया हुआ पुरुष ही जोधपुर जैसे बड़े राज्य का दीवान बनाया जाय, यही संभव है। इसलिये दीवान बनने के समय नैणसी की अवस्था यदि ४० वर्ष के लगभग मानी जाय, तो उसका जन्म वि० सं० १६७४ के आस-पास होना चाहिए। उसके इतिहास के प्रारम्भ-समय में अकबर का देहांत हुए केवल ४३ वर्ष हुए थे। ऐसी दशा में अकबर के समय की घटनाओं से वह परिचित न हो, यह तो संभव नहीं!

---

१ लखाराँ=लखेरों के यहाँ, नीपजे=उत्पन्न हुए, साख=शाखा, नटियो=इन्कार कर गया, ताँबो=ताँबे का एक भी पैसा, देण=देना, तलाक=अस्वीकार, लेसो=लोगे लावसो=लाओगे।

नैणसी का इतिहास (ख्यात) देखने से विदित होता है कि वह जगह-जगह के चारणों, भाटों आदि से भिन्न-भिन्न वंशों या राज्यों का इतिहास मंगवाकर संग्रह करता था। कहीं भी जाता तो वहाँ के क़ानूनगो से भी पुराना हाल मालूम करके लिख लेता था। इसी तरह वह अपने रिश्तेदारों से भी संग्रह कराया करता था, और वे लोग जो कहीं कोई शिला-लेख देखते, तो उसकी वंशावली भी दरियाफ्त कर नैणसी के पास पहुँचा देते थे। नैणसी का ग्रंथ भाटों की ख्यातों की अपेक्षा बड़े ही महत्त्व का है, तो भी कहीं-कहीं उसमें भाटों की पुस्तकों से वंशावलियों की जो नक़लें उद्धृत की गई है, उनमें तो पुराना इतिहास भाटों के सदृश ही है। नैणसी एक वंश की एक ही वंशावली से संतुष्ट न होकर जितनी तरह की वंशावलियाँ या वृत्तांत मिलते उन सबका संग्रह करता था। इससे ठीक वंशावली या इतिहास का निर्णय करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। वि० सं० १३०० के पीछे राजपूताने आदि के इतिहास के लिये नैणसी की ख्यात बड़े महत्त्व की है। उसके पूर्व के नाम तथा वृत्तांत तो जैसे सुने या मिले, वैसे ही उसमें उद्धृत किए गए हैं। उनमें भी कुछ नाम ठीक हैं और कुछ छोड़ दिए गए हैं जिनकी पूर्ति शिलालेख आदि से बहुत कुछ हो सकती है। वि० सं० १३०० के पीछे के इतिहास से संबंध रखने वाले शिलालेख आदि जहाँ नहीं मिलते, वहाँ नैणसी की ख्यात सहायता करती है। नैणसी की ख्यात में उदयपुर, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़ के गुहिलोतों (सीसोदियों) हाड़ा, देवड़ा, सोनगरा, चीवा, वागड़िया, साँचेरा, बोड़ा, काँपलिया, खींची, भायला आदि चौहानों की भिन्न-भिन्न शाखाओं तथा सोलंकियों, कछवाहों, खेड़ के गोहिलों, परमारों, जाँगलू के साँखलों, सोढ़ों, जैसलमेर के भाटियों, सरवैया आदि यादवों, झालों, जोधपुर, बीकानेर, और किशनगढ़ के राठोरों, मोहिलों, चंद्रावतों, दहियों, बूंदेलों, बघेलों, चावड़ों, गोड़ों, कायमखानियों आदि का इतिहास मिलता है। इस प्रकार के इतिहास के अतिरिक्त गुहिलोतों (सीसोदियों) परमारों, चौहानों, पड़िहारों, सोलंकियों, राठोड़ों, आदि की भिन्न-भिन्न शाखाओं के नाम तथा क़िले आदि बनने के संवत् तथा पहाड़ों, नदियों, ज़िलों के विवरण भी कई जगह दिए हैं। उक्त पुस्तक में चौहानों, राठोड़ों, कछवाहों और भाटियों का इतिहास तो इतने विस्तार के साथ दिया है और वंशावलियों का इतना अपूर्व संग्रह है कि अन्य साधनों से वैसा अब मिल ही नहीं सकता। इस ग्रन्थ में कई लड़ाइयों तथा कई वीर पुरुषों के मारे जाने के संवत् एवं उनकी जागीरों का जो विवेचन दिया है, वह भी कम महत्त्व का नहीं। नैणसी ने केवल राजपूताने के इतिहास को बहुत कुछ सुरक्षित किया है, इतना ही नहीं, गुजरात, काठियावाड़ कच्छ, बुंदेलखंड आदि के इतिहास लिखने वालों को भी इस ग्रन्थ में बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है। स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी तो नैणसी को 'राजपूताने का अबूलफ़ज़ल, कहा करते थे और उसके इतिहास पर बड़े मुग्ध थे। मुंशीजी ने सन् १९१६ के अगस्त का सरस्वती (पृ०८२–८५) में राजास्थान के इतिहास-मूँता नैणसी की ख्यात'

के विषय में एक लेख छपा कर उसके महत्त्व का परिचय करा दिया था।

कर्नल टॉड को यह अनुपम ग्रंथ न मिल सका। यदि उन्हें यह उपलब्ध होता, तो उनके लिखे हुए राजस्थान में बहुत कुछ परिवर्तन होता। यदि नैणसी की ख्यात देखे बिना कोई राजपूताने का राजस्थान-इतिहास के लिखने का साहस करे, तो उसका ग्रथ कभी संतोषदायक नहीं हो सकता।

नैणसी की अनुपम ख्यात २७५ वर्ष पूर्व की मारवाड़ी भाषा में लिखी हुई है, जिससे राजपूताने का रहनेवाला हर एक आदमी भी उसको सहसा ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। राजों, सरदारों आदि के पुराने गीत, दोहे आदि भी उसमें कई जगह उद्धृत किए गए हैं, जिनका ठीक-ठीक समझना तो और भी कठिन काम है।

वि० सं० १३०० के आस-पास से लगाकर उसके लिखे जाने के समय तक के इतिहास के लिये नैणसी का ग्रंथ अनुपम वस्तु है। उसमें भी कुछ त्रुटियाँ और अशुद्धियाँ अवश्य है, जो आधुनिक शोध के अनुसार शुद्ध की जा सकती हैं"।

माधुरी (मा.प.), लखनऊ, फाल्गुन वि.सं. '१९८२ फरवरी (ई०सं०१९२६)
वर्ष ४, खंड २, संख्या २, पृ०२०१–२०५।

सम्पादकीय टिप्पण

१. रणथम्भोर पर चित्ताड़ विजय होजाने के एक वर्ष पीछे बादशाह अकबर की वि० सं० १६२५ (ई०स० १५६८) में चढ़ाई हुई थी और बूंदी के राव सुरजन हाड़ा ने कुछ महीनों तक युद्ध करने के बाद उक्त दुर्ग बादशाही अधिकार में सौंप दिया था।

२. 'मरणहठ' का अर्थ हठ पूर्वक मृत्यु प्राप्ति करने वाला ही होगा। नैणसी ने जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह (प्रथम) को अर्थ दण्ड देना स्वीकार नहीं कर आत्मघात किया। इसलिए 'मरणहठ' शब्द उसके लिए प्रयुक्त हुआ हो, जो श्री लज्जारामजी महता की कल्पना ही जान पड़ती है। नैणसी ओसवाल जाति का जैन था। मुंहणोत वंश का प्रवर्तक 'मोहन' नामक व्यक्ति हुआ, जो जोधपुर के राठोड़ राव रायपाल का पुत्र था।

३. बूंदी के महाराव राजा रामसिंहजी की वि०सं० १८७८ (ई०स० १८२१) में गद्दीनशीनी हुई और वि०सं० १९४६ (ई०स० १८९०) में मृत्यु हुई।

४. नैणसी का जन्म वि०सं० १६६७ मार्गशिर्ष सुदि ४ शुक्रवार को हुआ था।

५. नैणसी-ख्यात में ऐसा मालूम होता है, पीछे से क्षेपक का अंश बढ गया है। उदाहरण के लिए डूंगरपुर के राजवंश की वंशावली के नामों को देखें, जिसमें पिछले दो चार राजाओं के नाम ऐसे है, जो नैणसी की मृत्यु बाद गद्दी पर बैठे थे। (स० टि०)

१० महाराणा राजसिंह

महाराणा अमरसिंह ने बादशाह जहाँगीर से संधी कर यद्यपि मुगलों की अधीनता स्वीकार करली थी, तथापि वस्तुतः उदयपुर के महाराणा बादशाहों के नाम मात्र ही अधीन थे। वे बादशाहों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। महाराणा अमरसिंह के पौत्र प्रसिद्ध दानी जगतसिंह ने संधि के विरूद्ध चित्तोड़ के किले की मरम्मत करानी प्रारंभ करदी थी। यह समाचार सुन कर बादशाह शाहजहाँ बहुत अप्रसन्न हुआ। ऐसे समय में जिगतसिंह का देहान्त होगया और उसका पुत्र वीर राजसिंह २३ वर्ष की अवस्था में वि० सं० १७०६ (ई० स० १६४३) में गद्दी पर बैठा।

महाराणा ने गद्दी पर बैठते ही अपने पिता के प्रारंभ किये हुए कार्य-चित्तोड़ की मरम्मत-को जारी रखा। कई दरवाजे नये बनाये गये, ऊँची दीवारें खड़ी की गई और टूटे हुए स्थानों की मरम्मत कीगई। शाहजहाँ इस पर अत्यन्त अप्रसन्न होकर वि० सं० १७११ में दिल्ली से अजमेर के लिए रवाना हुआ और उसने सादुल्लखाँ को ३०,००० सवारों सहित चित्तोड़ की नई मरम्मत गिराने के लिए भेजा राजसिंह ने लड़ने का उपयुक्त अवसर न देख कर चित्तोड़ से सेना हटाली और युवराज[1] को बादशाह के पास भेज दिया, तथा दक्षिण में भी नियत सेना भेजनी स्वीकार की, जो पहले नहीं भेजी गई थी[2]।

महाराणा राजसिंह स्वभावतः वीर प्रकृति का था और उपर्युक्त चढ़ाई के बदले का अवसर ढूंढ रहा था। जब शाहजहाँ के चारो पुत्र राज्य के लिए परस्पर लड़ने लगे, तब महाराणा यह अच्छा अवसर देख कर बादशाही अधिकार में गये हुए अपने परगने पीछे लेने तथा शाही मुल्क को लूटने के लिए वि० सं० १७१५ में रवाना हुआ मांडल, बनेड़ा, शाहपुरा, जहाजपुर, सावर, लिया, केकड़ी, मालपुरा, टोंक, सांभर आदि पर उन्होंने आक्रमण किया और इनमें से कितने एक स्थानों को अपने अधीन करके कई स्थानों से कर लिया।

दिल्ली की गद्दी के लिए शाहजादों की लड़ाइयां में महाराणा, औरंगजेब का सहायक रहा और कई अवसरों पर उसने उसे सहायता भी दी थी। औरंगजेब ने गद्दी पर बैठते ही महाराणा का

मनसब छः हजारी जात व छः हजार सवार नियत किया और बदनोर तथा मांडलगढ़ के अतिरिक्त डूँगरपुर, बांसवाड़ा, बसावर और गयासपुर (जो पहले उदयपुर राज्य से अलग होगये थे) महाराणा को दिये। इन परगनों पर महाराणा ने सैन्य भेज कर उन्हें अपने अधीन कर लिया।

यों तो प्रारम्भ में बादशाह औरंगजेब से महाराणा की मित्रता थी, परन्तु शीघ्र ही कुछ ऐसे कारण उत्पन्न होने लगे जिनसे दोनों में परस्पर अनबन होगई, जो बढ़ती ही गई। किशनगढ़ के राठोड़ राजा रूपसिंह की पुत्री चारुमती की सुन्दरता का हाल सुनकर औरंगजेब ने उसके भाई मानसिंह को, उसका अपने साथ विवाह करने के लिए विवश किया। चारुमती ने जो अपने पिता के समान परम वैष्णव थी, यह सुनकर महाराणा से प्रार्थना की कि आप मुझसे विवाह कर मेरे धर्म की रक्षा करें। इसे स्वीकार कर महाराणा वि० सं० १७१७ में ससैन्य किशनगढ़ गया और उसको व्याह कर अपने साथ उदयपुर ले आया। इस घटना से महाराणा और बादशाह में विरोध का अंकुर पैदा हो गया।

वि० सं० १७१९ में मेवल (उदयपुर राज्य का एक ज़िला) के मीनों ने महाराणा के विरुद्ध सिर उठाया। महाराणा ने उन पर सैन्य भेजकर उनका बल तोड दिया और अपने सरदारों को वह प्रदेश दे दिया। वि०सं० १७२० में सिरोही के राव अखैराज को क़ैद कर उसका पुत्र उदयभान गद्दी पर बैठ गया। महाराणा ने यह समाचार सुनकर राणावत रामसिंह को अखैराज की सहायता के लिए भेजा, जिसने उसे फिर गद्दी पर बिठा दिया।

औरंगजेब कट्टर मुसलमान होने के कारण हिन्दू धर्म का विरोधी था। उसने स्थान-स्थान की मूर्तियाँ और मंदिर तुड़वा दिये। जब उसने वल्लभ संम्प्रदाय की गोवर्धन पर्वत की मूर्तियों को तोड़ने की आज्ञादी, तब द्वारिकाधीश की मूर्ति मेवाड़ में लाई गई[3] और काँकरोली में उसकी प्रतिष्ठा कराई गई। इसी तरह श्रीनाथजी की मूर्ति भी महाराणा ने अपने राज्य में स्थापित कराई[4]।

वि० सं० १७३६ में बादशाह ने हिन्दुओं पर जजिया नामक अपमान जनक कर लगाया। हिन्दुओं ने इसका बहुत विरोध किया, परन्तु उसने एक न सुनी। इस अवसर पर महाराणा राजसिंह ने बादशाह को जजिये के विरोध में एक लम्बा पत्र लिखा,[5] जो बहुत प्रसिद्ध है। इस पत्र से महाराणा की महत्ता और नीतिज्ञता का अच्छा परिचय मिलता है। इस पत्र पर बादशाह बहुत बिगड़ा। कुछ समय बाद ही नीचे लिखी हुई एक घटना ऐसी हुई, जिससे बादशाह की क्रोधाग्नि में घृताहुति पड़ गई।

जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु वि०सं० १७३५ में जमरूद (अफ़गानिस्तान

में) के थाने पर हुई, जिसके कुछ ही दिनों पीछे महाराजा अजीतसिंह का जन्म लाहोर में हुआ। इसकी खबर पाते ही बादशाह ने आज्ञा दी कि उसे सीधा दिल्ली ले आवें, परन्तु वीर दुर्गादास आदि राठोड़ बालक अजीतसिंह को दिल्ली तो ले गये, परन्तु वहाँ खतरा देखकर उसे युक्ति पूर्वक निकालकर मारवाड़ की तरफ ले चले वहाँ भी उसकी रक्षा की संभावना न देख कर राठोड़ दुर्गादास और राठोड़ सोनिंग उसे महाराणा के पास ले आये। महाराणा ने उसे केलवे में रखकर राठोड़ों को यह सान्त्वना दी कि बादशाह राठोड़ों और सिसोदियों की सम्मिलित सेना का मुकाबला नहीं कर सकेगा।*

बादशाह ने दो तीन बार फरमान भेजकर अजीतसिंह को सौंपने के लिए महाराणा को लिखा,[6] परन्तु उनके स्वीकार न करने पर बादशाह ने बड़े भारी सैन्य सहित वि० सं० १७३६ भाद्रपद में दिल्ली से अजमेर की ओर प्रस्थान किया। यह सुनकर महाराणा ने भी सिसोदिये और राठोड़ सरदारों से सलाहकर युद्ध की तैयारी की और निश्चय किया कि पहाड़ों की सहायता से युद्ध किया जाय। घाटियों में शत्रुओं को घेर कर उनकी रसद का पहुंचना रोक कर उन्हें भूखों मारा जाय और शाही मुल्क को लूटा जाय। यह निश्चय कर वह ससैन्य पहाड़ों में चले गये।

राजपूतों की इस नीति के कारण मुगलों को बहुत क्षति उठानी पड़ी। कई दफा मुगल सेना पहाड़ों में जाकर फँस गई उसकी रसद लूट ली गई, जिससे उसे भूखों मरना पड़ा। भिन्न भिन्न स्थानों में लड़ाइयाँ होने के कारण मुगलों को एक स्थान पर राजपूतों से लड़ने का अवसर ही न मिला। इस तरह मुगल सेना टुकड़ों में विभक्त हो जाने के कारण राजपूतों के लिए उस पर विजय प्राप्त करना कठिन न था। मुगल सेना पहाड़ी प्रदेश में जाना नहीं चाहती थी। कई जगह मुगलों की हार हुई और कहीं राजपूत भी पराजित हुए, परंतु प्रबलता राजपूतों की ही रही। इन लड़ाइयों का विस्तृत वर्णन प्रोफेसर जदुनाथ सरकार ने अपने प्रसिद्ध 'औरंगजेब' की तीसरी जिल्द में किया है, जिससे पाया जाता है कि मुगल सेना की कई जगह बड़ी दुर्दशा हुई।

युद्ध के अंत में बादशाही सेना की बुरी हालत होगई, जैसा कि शाहज़ादे अकबर के लिखे हुए पत्रों से ज्ञात होता है। बादशाह ने महाराणा से सुलह की बात-चीत शुरु की। महाराणा को युद्ध जारी रखना था, परन्तु उसके कुछ सरदार इस बात को पसन्द नहीं करते थे। वि० सं० १७३७ के कार्तिक में कुंभलगढ़ जाते हुए वह ओड़ा गाँव में ठहरा, जहाँ किसी ने उसके भोजन में विष मिला दिया, जिससे उसकी मृत्यु होगई, ऐसी प्रसिद्धि है।

महाराणा का जीवन केवल वीर जीवन नहीं था। वह अपने प्रसिद्ध, दानी पिता जगतसिंह[7] का दानवीर पुत्र भी था[8]। महाराणा कुंभा और महाराणा साँगा की उपार्जित सम्पत्ति का उन्होंने खूब

उपभोग किया और बहुत से दान भी दिये। उसने गद्दी पर बैठने के कुछ दिनों बाद ही एकलिंगजी में जाकर रत्नों का तुलादान किया। रत्नों के तुलादान का भारत भर में केवल एक यही उदाहरण मिलता है। राजसमुद्र की प्रतिष्ठा के अवसर पर उसने बहुत अधिक दान किये, जिनका राजप्रशस्ति में विस्तार से उल्लेख है। उनमें से मुख्य दान सोने की तुला, विश्वचक्र, हेमब्रह्मांड, सप्तसागर तथा स्वर्णपृथ्वी आदि हैं।

महाराणा राजसिंह का शासनकाल शिल्प संबंधी कार्यों के लिए भी प्रसिद्ध है। उसके शिल्प सम्बन्धी कामों में सब से अधिक महत्त्व का कार्य राजसमुद्र तालाब का निर्माण है। इस तालाब की खुदाई का प्रारम्भ वि० सं० १७१९ माघ में हुआ और १७३२ माघसुदि पूर्णिमा को इसकी प्रतिष्ठा हुई। इस तालाब के सम्बन्ध में १,०५,०७,६०८ रुपये व्यय हुए। इसी तालाब के साथ उन्होंने नौचोकी नामक संगनर्मर के बांध के पहाड़ पर राजमहल बनवाया, तथा राजनगर नामक कस्बा आबाद किया। कांकरोली के पास वाली पहाड़ी पर उन्होंने द्वारकाधीश का मन्दिर तथा उदयपुर में अम्बामाता का मन्दिर बनवाया। अपनी माता जनादे के नाम पर उन्होंने बड़ी गांव के पास जना सागर नामका तालाब[8] तथा रंगसागर तालाब[9] बनवाया। वि० सं० १७१६ में उसने देवारी की घाटी का कोट और दरवाजा तैयार कराया। उसने कुंवरपदे में ही सर्वऋतुविलास (सबरतविलास) नामक महल और बावड़ी सहित बाग बनवाया था।

महाराणा राजसिंह रणकुशल, साहसी, वीर निर्भीक, उग्रस्वभाव, धर्मनिष्ठ और दानी राजा था। वह स्वयं कवि और विद्वानों का सम्मान कर्ता था। उसने अपने समय तक के मेवाड़ के इतिहास का राजप्रशस्ति नामक महाकाव्य लिखवाया। यह महाकाव्य उक्त महाराणा की आज्ञानुसार २५ बड़ी बड़ी शिलाओं पर खोदा जाकर राजसमुद्र के नौ चोकी नामक बाँध पर संगमर्मर के २५ ताकों में रखा गया शिलाओं पर खुदे हुए लेखों अथवा ग्रंथों में यह सब से बड़ा काव्य है। ये शिलाएं आज भी महाराणा राजसिंह के इतिहास-प्रेम की परिचायक हैं। वह उदयपुर के इतिहासरूपी आकाश में अन्तिम उज्जवल नक्षत्र हुवा। महाराणा राजसिंह के पीछे उदयपुर राज्य की वह स्थिति न रही, जो उसके समय में थी। उसके पीछे उसके समान वीर और नीति कुशल राणा आज तक नहीं हुआ।

भारतेन्दु (मा० पत्र), प्रयाग, वर्ष १, खंड, संख्या २,
आश्विन सं० १९८५, अक्टोबर १९२८।

सम्पादकीय टिप्पण

1 युवराज का अभिप्राय, यहां उक्त महाराणा के ज्येष्ठ कुंवर सुलतानसिंह से है, जिसका जन्म वि० सं० १७०५ चैत्रवदि १ शनिवार को हुआ था। वि० सं० १७२० में उक्त कुंवर का परलोकवास हुआ, ऐसा बीकानेर के राजाओं की स्मारक छत्रियों के लेख से पाया जाता है।

2 मुगल दर्बार से सन्धि होने पर दक्षिण में जमीयत भेजना आरंभ हो गया था, पर महाराणा जगत्‌सिंह ने उसको बंद कर दिया, जिससे राजसिंह ने पुनः भेजना जारी किया।

3 द्वारिकाधीश की मूर्ति वि० सं० १७२७ में आसोटिया गांव में स्थापित की गई और वहाँ से महाराणा अमरसिंह द्वितीय के समय उठाकर वर्तमान कांकरोली के मंदिर में।

4 श्रीनाथजी की मूर्ति वि० सं० १७२८ में मेवाड़ में आने पर सीहाड़ गांव में स्थापित की गई, जिसको नाथद्वारा कहते हैं।

जजिया के विषय में बादशाह औरंगजेब को पत्र भेजने के विषय में आरंभ से ही मत भेद हैं। कोई उसको आंबेर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह, कोई जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह का भेजना कहते हैं। कर्नल टॉड उक्त पत्र की प्रतिलिपि उदयपुर से मिलने के कारण उसको महाराणा राजसिंह की तरफ से भेजने का उल्लेख करता है। विपरीत इसके जोधपुर के मुंशी देवीप्रसादजी और सरजदुनाथ सरकार उसको प्रसिद्ध वीर शिवाजी की तरफ़ से प्रेषित करना बतलाते हैं। तत्समयक परिस्थितियों को देखते यह पत्र महाराणा राजसिंह की तरफ़ से भेजना असंभव नहीं जान पड़ता, जैसा कि श्री ओझाजी ने राजपूताना के इतिहास में बतलाया है।

6 जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह के मेवाड़ में आने का वृत्तांत मानकवि रचित राजविलास में विस्तार से उल्लिखित है। जोधपुर की ख्यातों में यह वर्णन नहीं है, पर वहां जसवन्तसिंह की एक रानी का पदराड़ा गांव में रहने का उल्लेख अवश्य है। इससे स्पष्ट है कि महाराजा जसवंतसिंह का परिवार मेवाड़ में आकर अवश्य रहा था।

7 महाराणा जगत्‌सिंह की दानशीलता के विषय में प्रसिद्ध है—

> लक्षंहयान् सप्तशतं गजाना ग्रामान् शतं षोडश दान युक्त ॥
> यो दत्तवानर्थि जनाय भूपतिः कस्त नृपं स्तोतु मिहप्रसज्येत् ॥

8 जनासागर— उदयपुर से पश्चिम उत्तर में तीन मील दूर बड़ी गांव के पास अच्छा जलाशय है और उसका सुदृढ़ बांध सफेद पत्थर का बना हुआ है।

9 रंगसागर— उदयपुर के पीछोले तालाब का उत्तरी भाग, जो चांदपोल के निकट है।

११ शिवाजी का जन्म दिन[१]

चैत्रादि विक्रम-संवत् १६८४, वैशाख-सुदि २ (तारीख़ ३ मई, सन् १६२७ ई०) को भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न नगरों में वीर-शिरोमणि छत्रपति शिवाजी महाराज की त्रिशद्वर्षीय जयंती मनाने के समाचार सुनने में आए। छत्रपति शिवाजी-जैसे वीर और स्वतंत्रता-देवी के परमोपासक की जयंती देश-भर में मनाई जाय, यह बड़े ही हर्ष का विषय है। परंतु खेद की बात है कि हमारे यहाँ का समसामयिक लिखित इतिहास न होने के कारण अनेक प्रसिद्ध वीरपुरुषों, विद्वानों, धनाढ्यों आदि का जन्म-संवत् और जन्म-दिन अनिश्चित ही हैं। यही बात वीर-शिरोमणि शिवाजी महाराज के जन्म-संवत् और जन्म-दिन के संबंध में भी कही जा सकती है। न तो विक्रम-संवत् १६८४, वैशाख-शुक्ल (ता० ३ मई, १६२७ ई०) को शिवाजी महाराज के जन्म से ३०० वर्ष पूरे होकर ३०१ वर्ष का प्रारंभ होता है, और न उनका जन्म वैशाख-शुक्ला २ को हुआ था। हमारे यहाँ के विद्वानों में शोधक बुद्धि का किसी प्रकार अभाव होने के कारण ही शिवाजी-जैसे महापुरुषों की जयंती शुद्ध दिन पर नहीं मनाई जा सकी और यह कम खेद की बात नहीं है।

जैसे राजपूताने में भाटों आदि की लिखी हुई इतिहास की पुस्तकें 'ख्यातें' कहलाती हैं, वैसे ही दक्षिण में पहले की लिखी इतिहास-संबंधी याददास्त की पुस्तकें 'बखर' कहलाती हैं, जिनमें ऐतिहासिक बातें, या संवत्-क्रम से घटनाओं का विवरण मिलता है। शिवाजी के संबंध की कई एक बखरें मिलती हैं, जिनमें से एक भी शिवाजी के जीवन-काल की लिखीहुई नहीं है। शिवाजी के जन्म का ठीक

---

१ इस लेख के लिखने में हमारे संग्रह की अँगरेजी, मराठी आदि पुस्तकों के अतिरिक्त हमारे वयोवृद्ध विद्वान मित्र दीवान बहादुर गोविन्द-रामचन्द्र खांडेकरजी के संग्रह की 'भारतवर्ष' आदि कितनी ही मराठी-पुस्तकों से भी सहायता ली गई है, जिसके लिये हम उनके बहुत ही अनुगृहीत हैं।

—लेखक

दिन निश्चय करने के लिये ही सबसे पहले इन बखरों में दिए हुए शिवाजी के जन्म संवत् आदि का उल्लेख और उसकी जाँच नीचे की जाती है।

१-२—सबसे पहली बखर अनंत-कृष्णाजी सभासद ने शक संवत् १६१६ (वि०सं० १७-५१) के आस-पास लिखी, जिसको चित्रगुप्त-नामक लेखक ने पीछे से परिवर्द्धित किया। इन दोनों में तो शिवाजी के जन्म के संवत्, मास, पक्ष, तिथि आदि कुछ भी उल्लेख नहीं है।

३—प्रोफेसर फारेस्ट की प्रकाशित रायरीवाली बखर के प्रारम्भ में शिवाजी का जन्म शक-सं० १५४८ (वि० सं० १६८३) में होना बतलाया है; परंतु उसी के अन्त में शक-संवत् १५४६ (वि०सं० १६८४) के वैशाख में जन्म होना भी लिखा है। प्रसिद्ध इतिहास-संशोधक स्वर्गवासी श्रीयुत राजवाड़े महाशय के संग्रह की उसी बखर की हस्त-लिखित प्रति में उसका जन्म शक-संवत् १५४८, (वि० सं० १६८३) क्षय नाम संवत्सर, वैशाख सुदि ५ चंद्रवार को होना लिखा है। परंतु उक्त संवत् में वैशाख-शुक्ला ५ को चंद्रवार नहीं, किंतु गुरुवार था। इसलिये उक्त बखर में दिया हुआ शिवाजी का जन्म-दिन भी विश्वास-योग्य नहीं कहा जा सकता।

४—मल्हारराव-रामराव चिटरणीस की बखर में उनका जन्म शक-सं० १५४६ (वि० स० १६८४), प्रभव-नाम संवत्सर वैशाख-सुदि २, गुरुवार को होना और ६ उच्च ग्रह होना बतलाया है। परंतु उक्त तिथि को गुरुवार नहीं, किंतु शनिवार था, और न उस दिन ६ उच्च ग्रहों के होने की संभावना है। अतएव उक्त बखर का कथन भी संतोष-जनक नहीं कहा जा सकता।

५—बरोदे से प्रकाशित 'शिव-दिग्विजय'-नामक पुस्तक, में शिवाजी का जन्म शक-संवत् १५४६ (वि० सं० १६८४), प्रभव-नाम संवत्सर, वैशाख-शुक्ला २, गुरुवार रोहिणी में होना माना है। परंतु उक्त तिथि को गुरुवार और रोहिणी-नक्षत्र नहीं, किंतु शनिवार और भरणी-नक्षत्र था। अत-एव इस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

६—बरोदे की छपी हुई 'शिवप्रताप'-नामक पुस्तक, शिवाजी का जन्म शक-सं० १५४६ (वि० सं० १६८४), रक्ताक्षी-नाम संवत्सर में होना माना है। परंतु दक्षिणी बार्हस्पत्य गणना के अनुसार शक-संवत् १५४६ (वि० सं० १६८४) का नाम रक्ताक्षी नहीं, किंतु प्रभव था। रक्ताक्षी नाम तो शक-संवत् १५४३ (वि०सं० १५८१) का था। इसलिये यह कथन भी माननीय नहीं।

७—काव्येतिहास में प्रकाशित 'मराठी साम्राज्या च्यीं छोटी बखर'-नामक पुस्तक में शिवाजी का जन्म शक-संवत् १५४६ (वि० सं० १६८४), क्षय-नाम संवत्सर, वैशाख-सुदि ५, सोमवार को होना लिखा है। परंतु शक-सं० १५४६ (वि० सं० १६८४) का नाम क्षय नहीं किंतु प्रभव था। अतएव इसके कथन को भी उपर्युक्त कथनों के समान समझना चाहिए।

८—'भारतवर्ष'-नामक मराठी-पुस्तक में शिवाजी का ९१ कलमों (विषयों) वाला एक बखर छपा है। उसकी १५ वीं कलम में शिवाजी का जन्म शक-संवत् १५४९ [1] (वि० सं० १६८४), क्षय-नाम संवत्सर, वैशाख-सुदि ५, चंद्रवार को होना बतलाया है, जो संख्या ७ के समान ही है।

९-१०—भारतवर्ष-नामक पुस्तक में प्रकाशित 'छत्रपति च्यीं वंशावलीबद्ध यादी' में शक-सं० १५४९ (वि०सं० १६८४) वैशाख-सुदि ५ को और उसी में न्याय शास्त्री पंडित राव की जो बखर छपी है, उसमें शक-सं० १५४९ (वि० सं० १६८४), प्रभव-संवत्सर में उसका जन्म होना माना है। परन्तु पहली 'यादि' (याद्दाश्त) में वार नहीं दिया, और दूसरी में मास, पक्ष, वार नहीं दिए, इसलिये उन दोनों की जाँच नहीं हो सकती।

११—उसी पुस्तक में छपे हुए 'पंतप्रतिनिधी च्यां बखर' में छत्रपति महाराज का जन्म शक-संवत् १५४९ (वि० स० १६८४), प्रभव-संवत्सर वैशाख-शुक्ला १५, इंदु (सोम) वार को होना लिखा है। उक्त संवत् की वैशाख-सुदि १५ को सोमवार नहीं, किंतु शुक्रवार था। उक्त पुस्तक के टिप्पण में ५ के स्थान में लेखक के दोष से १५ लिखा जाना बतलाया है। यदि शुद्ध पाठ पंचमी माना जाय तो उसकी जाँच ऊपर लिखी हुई संख्या ३, ७ और ८ के समान समझनी चाहिए।

ऊपर लिखी हुई ११ पुस्तकों में से पहली दो में, जो सबसे पुरानी हैं शिवाजी के जन्म का संवत्, मास आदि दिया ही नहीं। बाकी की ९ पुस्तकों में, जो उनके स्वर्गवास से १०० वर्ष या अधिक पीछे की लिखी हुई हैं, शक सं० १५४८ या १५४९ (वि० सं० १६८३ या १६८४) दिया है। ऐसे ही पिछली ९ पुस्तकों में से दो (संख्या ४, ५) में जन्म-तिथि वैशाख–शुक्ला द्वितीया, और छः (संख्या ३, ७, ८, ९, १०, ११) में वैशाख-शुक्ला ५ दी है। संख्या ६ में तिथि नहीं है। इसी प्रकार उनमें से दो (संख्या ४, ५) में गुरुवार, और चार (संख्या ३, ७, ८, ११) में सोमवार दिया है, तथा संख्या ६, ९, १० में वार नहीं दिया। इन पुस्तकों के देखने से शिवाजी के जन्म-दिन के विषय में संशय हुए विना नहीं रहता।

मरहठों का अँगरेज़ी-इतिहास लिखनेवालों में सबसे पहले लेखक ग्रांट डफ़ ने शिवाजी का जन्म ईस्वी सन् १६२७ के मई-महीने (शक-सं० १५४९ = वि० सं० १६८४ ज्येष्ठ-आषाढ़) में होना माना है। प्रोफ़ेसर टकाखव ने शक-संवत् १५४९ (वि० सं० १६८४) की वैशाख-सुदि ५ को माना है, जो अधिकांश बखरों के अनुसार है। शिक्षक केलुस्कर ने शक-संवत् १५४९, वैशाख-

---

1. छपी हुई पुस्तक में १५५९ छपा है, जो प्रेस की भूल होनी चाहिए।
—लेखक

सुदि २, गुरुवार माना है; परंतु तिथि और वार का योग न होने से उस पर विश्वास नहीं किया। श्रीयदुनाथ सरकार ने उल्लिखित बखरों में से एक में भी दी हुई तिथि, संवत् आदि पर विश्वास नहीं किया, और जेधे की बखर शकावली (जिसका वर्णन आगे किया जायगा) में दिए हुए संवत् आदि को ठीक माना है। मिस्टर किंकेड और श्रीयुत पार्सनिस (स्वर्गवासी) ने शिवाजी का जन्म-दिन ता० १० एप्रिल, सन् १६२७ (शक-सं० १५४९ = वि० सं० १६८४, वैशाख-सुदि ५) को माना है।

इस प्रकार अँग्रेज़ी के भिन्न-भिन्न इतिहास-लेखकों ने भिन्न-भिन्न बखरों के अनुसार छत्रपति की भिन्न-भिन्न जन्म-तिथि दी है, जिससे किसी एक तिथि या संवत् का निश्चय नहीं हो सकता। कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गवासी लोकमान्य तिलक महाराज को भोर-संस्थान के कारी-गाँव के इज़ाफेदार श्रीयुत दयाजीराव-सर्जेराव उर्फ दाजी साहब जेधे देशमुख के यहाँ से एक पुरानी बही मिली थी, जिसमें शक-संवत् १५४० से १६१९ (वि० सं० १६७५ से १७५४) तक की घटनाओं का वर्ष-क्रम से उल्लेख है। उक्त महानुभाव ने उसका नाम 'जेधे की शकावली' रक्खा। अतएव हम भी इस लेख में उसे शकावली कहेंगे। संभव है, वह शकावली शक-संवत् १६१९ (वि० सं० १७५४) तक लिखी गई हो। उक्त शकावली में शिवाजी का जन्म शक-संवत् १५५१ (वि० सं० १६८६) फाल्गुन-वदि ३ (उत्तरीय गणना के अनुसार चैत्रवदि ३) शुक्रवार और हस्त-नक्षत्र को होना लिखा है। यह शकावली ऊपर लिखी हुई पहली दो बखरों को छोड़कर बाक़ी सबसे पुरानी है। दक्षिणी गणना के उक्त संवत् में फाल्गुनवदि ३ को शुक्रवार और हस्त-नक्षत्र भी था।

जेधे के घरानेवालों के अधिकार में बीजापुर और अहमदनगर के सुलतानों की दी हुई जागीर अब तक चली आती है। कान्होजी जेधे, शाहजी और शिवाजी का समकालीन था, और जिस समय शिवाजी अफ़ज़लख़ाँ से प्रतापगढ़ में मिले, उस समय वह अपने ६ पुत्रों-सहित शिवाजी के पास विद्यमान था। उसके पुत्रों में से बाजी-नामक जेधे का जन्म शक-संवत् १५५० (वि० सं० १६८५) कार्तिकवदि ५ (उत्तरीय गणना से मृगशिर-वदि ५) को हुआ था; अर्थात् जेधे की शकावली के अनुसार वह शिवाजी से अनुमानतः एक वर्ष बड़ा था। उक्त शकावली के कथन की पुष्टि नीचे लिखे हुए प्रमाणों से भी होती है—

१—थोड़े वर्ष पूर्व तंजोर में 'शिवभारत' नाम की पुस्तक मिली, जिसकी रचना पंडित परमानंद निधिवासकर ने शिवाजी की आज्ञा से ही की थी और जिसमें शिवाजी के दादा मालोजी से लगाकर शक-संवत् १५८४ (वि०सं० १७१९) तक का शिवाजी का वर्णन है। यह पुस्तक शिवाजी की जीवित दशा में बनी हुई होने के कारण उनके जन्म-दिन के निर्णय में सबसे अधिक उपयोगी है। उक्त पुस्तक में शिवाजी का जन्म-दिन नीचे लिखे अनुसार है—

भूबाणप्राणचन्द्राब्दे सम्मिते शालिवाहने;
शके संवत्सरे शुक्ले प्रवृत्ते चोत्तरायणे ।
शिशिरर्तौ वर्तमाने प्रशस्ते मासि फाल्गुने;
कृष्णपक्षे तृतीयायां निशि लग्ने सुशोभने ।
... ...
महोरस्कं महाबाहुं सुपुत्रे साद्भुतं सुतम् ।

आशय—शालिवाहन-शक १५५१ (वि० सं० १६८६) के उत्तरायण और शिशिर-ऋतु में फाल्गुन-कृष्णा ३ की रात्रि को (शहाजी के) पुत्र (शिवाजी) का जन्म हुआ ।

यह कथन जेधे के अनुसार ही है । इसमें उक्त दिन का वार नहीं दिया; परंतु यह विशेष रूप से बतलाया है कि शिवाजी का जन्म रात्रि को हुआ था ।

२—तंजोर में एक शिलालेख मिला है, जिसमें शिवाजी का जन्म शक-संवत् १५५१ (वि०सं० १६८६) में होना लिखा है । उक्त लेख में मास, पक्ष और तिथि नहीं दी; परंतु संवत् जेधे की शकावली और शिवभारत के अनुसार है ।

३—हमारे मित्र ब्यावर (राजपूताना)-निवासी व्यास मीठालालजी के द्वारा हमें प्रसिद्ध ज्योतिषी चंडू के वंशजों के यहाँ का एक पुराना गुटका मिला है, जिसमें ज्योतिष की कई पुस्तकों की नक़लें हैं । उन पुस्तकों के मध्य में दिल्ली के बादशाहों, उनके शाहज़ादों, अमीरों तथा हिंदु-राज-वंशियों में राठोड़ों, कछवाहों, मेवाड़ के राणाओं, देवड़ों, भाटियों, गौड़ों, हाड़ों, गूर्जरों एवं मुहणोतों, सिंघियों, भंडारियों, पंचोलियों, ब्राह्मणों तथा रानियों और कुँआरियों आदि की अनुमानतः ५४० जन्म-पत्रियों का संग्रह है । यह गुटका ज्योतिषी चंडू के वंशधर पुरोहित शिवराम ने वि० सं० १७३२-३७ तक लिखा था, जैसा उसमें जगह-जगह दिए हुए संवतों से मालूम होता है । उक्त संग्रह में मेवाड़ के राणाओं की जन्म-पत्रियों के अंतर्गत शिवाजी की जन्म-पत्री भी है, जिससे यह भी पाया जाता है कि उस समय भी शिवाजी मेवाड़ के राजों के वंशधर माने जाते थे । उक्त जन्म-पत्री में वि० सं० १६८६ (श० सं० १५५१) की फाल्गुन-वदी ३, शुक्रवार को, सूर्योदय से ३० घटी ९ पल पर, शिवाजी का जन्म होना लिखा है । स्पष्ट सूर्य १० । २३ और स्पष्ट लग्न ४ । २९ दिया है । अनुमान होता है कि यह जन्म-पत्री की नक़ल ही है । केवल शक-संवत् १५५१ के स्थान पर वि० सं० १६८६ बनादिया है; क्योंकि फाल्गुन-वदि ३ को दक्षिणी गणना के अनुसार ही शुक्रवार था, उत्तरीय गणना के अनुसार चैत्रवदि ३ को ।

चंडू जोधपुर-राज्य का प्रसिद्ध ज्योतिषी था, जिसकी तैयार की हुई सारिणी के अनुसार अब तक पंचांग बनता है, जो 'चंडवाणी-पंचांग' कहलाता है। चंडू और उसके वंशधर जोधपुर-राज्य के राजकीय ज्योतिषी रहे। जब से जोधपुर-राज्य ने बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार की, तब से वहाँ के राजा मुगलों के दरबार में सेवार्थ रहा करते थे और उनके साथ चंडू के वंश का कोई-न कोई ज्योतिषी भी रहा करता था। चंडू और उसके वंशधर एक बड़े राज्य के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे, इसलिये उनके पास बादशाहों, राजा-महाराजों आदि की जन्म-पत्रियों का पहुँचना साधारण बात है। अनुमान होता है कि जो-जो जन्म-पत्रियाँ उनके यहाँ आती थीं, उनकी नकलें वह अपने यहाँ रख लेते थे। इन्हीं को शिवराम ने जाति या वंश के अनुसार क्रम-बद्ध किया। शिवाजी की यह जन्म-पत्री शिवाजी के स्वर्गवास[1] से पूर्व ही शिवराम ने क्रम-बद्ध की थी। संभव है, शिवाजी के औरंगजेब के दरबार में पहुँचने पर उनकी जन्म-पत्री की नकल चंडू के वंशजों के पास पहुँची हो। शिवराम की लिखी जन्म-पत्री जेधे की शकावली, शिवभारत तथा तंजोर के शिलालेख से ठीक मिलती हुई है। शिव-भारत में रात्रि में जन्म होना लिखा है। वह भी शिवराम की लिखी जन्म-पत्री से शुद्ध प्रतीत होता है; क्योंकि उक्त शक-संवत् में दक्षिणी फाल्गुन-वदि ३ को शिवाजी के जन्म-स्थान शिवनेरी में सूर्यास्त २८ घटी ५२ पल पर हुआ होगा। अतएव शिवाजी के जन्म के समय अनुमानतः सवा घड़ी रात्रि गई होगी। ऐसे ही जेधे का दिया हुआ हस्त-नक्षत्र भी शुद्ध है; क्योंकि उक्त तिथि को हस्त-नक्षत्र ही था। शिवराम की लिखी हुई जन्म-पत्री में चंद्र कन्या-राशि पर है और यह भी उस दिन हस्त-नक्षत्र का होना सिद्ध करता है

ऊपर उद्धृत किए हुए चारों प्रमाणों से शिवाजी का जन्म शक-संवत् १५५१ (वि० सं० १६८६)[2], दक्षिणी फाल्गुन-वदि ३ (उत्तरीय चैत्र-वदि ३), शुक्रवार, हस्त-नक्षत्र, अर्थात् ता०

---

१ शिवाजी का स्वर्गवास शक-सवत १६०२ (वि० सं० १७३७) चैत्र-शुक्ल पूर्णिमा (द्वितीय), रविवार, अर्थात ता० ४ एप्रिल, ईस्वी सन् १६८०, को हुआ था।

२ दो वर्ष पूर्व तक जेधे की शकावली, तंजोर का शिलालेख, शिवभारत और चंडू के यहाँ का जन्म-पत्रियों वाला गुटका, ये चारों हमें प्राप्त नहीं हुए थे, जिससे हमने अंग्रेजी की पुस्तकों और मराठी की बखरों के अनुसार अपने 'राजपूताने का इतिहास, की पहली जिल्द के पृष्ठ २८१ में शिवाजी का जन्म वि० सं०

१६ फ़रवरी, सन् १६३० ई०, को होना निश्चित है। जिन बखरों में शिवाजी का जन्म-दिन दिया है, वे सब शिवाजी के जन्म से १५० या उससे भी अधिक वर्ष पीछे की लिखी हुई होने, उनके परस्पर न मिलने और उनमें दी हुई तिथि और वार गणित से शुद्ध सिद्ध न होने के कारण वे विश्वास के योग्य नहीं हैं। शिवभारत और शिवराम की दी हुई दोनों जन्म-पत्रियाँ शिवाजी के जीवनकाल में लिखे जाने और जेधे की शकावली से उनकी सब बातों के मिलने तथा तंजोर के शिलालेख से संवत् के मिलने के कारण वे ही प्रामाणिक हैं, बखरें नहीं।

शिवाजी की ३०० वर्ष की जयंती, जो वैशाख-शुक्ला द्वितीया (ता० ३ मई) को मनाई गई है, उनके वास्तविक जन्म-दिन के अनुसार नहीं है; क्योंकि न तो उस दिन शिवाजी का जन्म हुआ, और न उनके जन्म से ३०० वर्ष पूरे हुए। शिवाजी की ३०० वर्ष की जयंती आगामी शक-संवत् १८५१ (वि० सं० १९८६) दक्षिणी फाल्गुन-वदि ३ (उत्तरीय चैत्र-वदि ३), शुक्रवार (ता० १७ जनवरी, सन् १९३० ई०) को मनानी चाहिए, जो अनुमानतः ३ वर्ष पूर्व ही मनमानी तिथि पर मना ली गई। यह अंधाधुंधी हमारे देशभाइयों में इतिहास की अज्ञानता प्रकट करती है। प्रतिष्ठित हिंदू राजों की जयंती उनका ठीक दिन निश्चय करके मनानी चाहिए।

पिछले दो-तीन वर्षों से महाराष्ट्र-देश में शिवाजी के जन्म-संवत् और दिन के विषयमें विद्वानों में संघर्ष चल रहा है। एक पक्ष शिवाजी के जन्म से १५० या उससे भी अधिक वर्ष पीछे लिखी हुई बखरों का, जो अप्रामाणिक है, विश्वास कर उसी दिन को शिवाजी का जन्म मानने की हठधर्मी करता है, तो दूसरा पक्ष शिवाजी के समय के लिखे हुए साधनों तथा जेधे की शकावली को प्रामाणित मानकर फाल्गुन-वदि ३ (उत्तरी चैत्र-वदि ३) को शिवाजी का जन्म मानता है और उसी के अनुसार गत वर्ष शिवाजी के जन्म-स्थान शिवनेरी के क़िले में उसी दिन बड़े समारोह के साथ जन्मोत्सव मनाया गया था। संभव है, अप्रामाणिक बखरों पर अंध विश्वास करनेवाले महाराष्ट्रीय विद्वानों ने शुद्ध दिन के पक्षवालों से अपना स्पष्ट विरोध प्रकट करने के लिये ही शिवाजी की ३०० वर्ष की यह कल्पित जयंती मनाने का प्रयत्न किया हो। किंतु यदि वे निष्पक्षपात होकर शिवाजी के जीवन-काल के लिखे हुए प्रमाणों का खयाल करते, तो उनको अपनी यह अंधाधुंधी स्पष्ट प्रतीत हो जाती।

१६८४ (ई० सन १६२७) में होना माना था। परंतु जब से उपरिलिखित चारों प्रमाण हमें प्राप्त हुए तब से हमको अपना वह मत पलटकर शिवाजी का जन्म-दिन ऊपर लिखे अनुसार मानना पड़ा है।—लेखक

शिवाजी-जैसे महापुरुष के जन्म का शुद्ध दिन और शुद्ध संवत् निश्चित करने के लिये पूर्ण प्रमाण-सहित एक विस्तृत लेख लिखने की आवश्यकता है, जिसे हम सावकाश लिखकर प्रकाशित करेंगे। यह छोटा-सा लेख हिंदी-प्रेमियों को उक्त महापुरुष के शुद्ध जन्म-दिन का परिचय कराने के लिये लिखा है। यदि भारत के पत्र-पत्रिकाओं के संपादक उचित समझें, तो सविस्तर लेख प्रकाशित होने के पूर्व इस लेख को अपने-अपने पत्रों में स्थान देकर अपने पाठकों को इसका परिचय करादें, ताकि आगामी वर्षों में शिवाजी की जयंती किस दिन मनानी चाहिए, इस विषय पर वादानुवाद होकर ठीक दिन का निश्चय हो जाय।

सुधा (मा० प०) लखनऊ, वर्ष १, खण्ड १, ई० स० १९२७।

सम्पादकीय टिप्पण

1 चंडूजी के संग्रह में प्रसिद्ध वीर शिवाजी की जन्मकुंडली, मेवाड़ के सीसोदिया नरेशों की जन्मकुंडलियों के साथ उल्लिखित होना यही बतलाता है कि वीर शिवाजी सीसोदिया कुल के थे। कर्नल टॉड और कविराजा श्यामलदासजी ने शिवाजी के कुल का उद्भव मेवाड़ के राजवंश से माना है, परन्तु कर्नल टॉड और कविराजा द्वारा इस विषय पर खोज कीगई हो, ऐसा पाया नहीं जाता। श्री ओझाजी ने अपने राजपूताने के इतिहास में अवश्य ही शिवाजी के कुल के संबंध में पृथक् रूप से विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, किन्तु उसका मूल आधार मूधोल से प्राप्त होने वाले फ़रमान आदि ही हैं, जिनको श्री यदुनाथ सरकार आदि विश्वस्त नहीं मानते हैं। इस विषय पर निश्चय ही दो मत हैं, जिनमें से कौनसा ग्राह्य है, यह प्रामाणिक सामग्री प्राप्ति पर ही निर्भर है। उदयपुर के महाराणाओं के संग्रह में जो पुरातन पत्रों आदि का संग्रह है, वह अट्ठारहवीं शताब्दी पूर्व का नहीं है। अतएव इस विषय पर वहां से कोई नूतन प्रकाश पड़े यह सम्भव नहीं जान पड़ता। शोध से कोई प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हो, तबही इसका ठीक-ठीक निर्णय हो सकता है।

१२ महाराजा अनूपसिंहजी का विद्यानुराग[1]

बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका के वंशधर महाराजा कर्णसिंह के ज्येष्ठ पुत्र महाराजा अनूपसिंह का जन्म वि० सं० १६९५ चैत्र सुदि ६ (ई० स० १६३८ तारीख ११ मार्च) को हुआ था[1]। कर्णसिंह के समय में ही मुगल शासक औरंगज़ेब अपने पिता शाहजहां को कैद में डालकर दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया था और थोड़े समय में ही उसकी कट्टरता की धाक सारे भारतवर्ष में जम चुकी थी। बीकानेर के शासकों में सर्व प्रथम राव कल्याणमल ने बादशाह अकबर से मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया,[2] जिसके पुत्र रायसिंह ने शाही सेना में रहकर ऊँचे दर्जे के सम्मान की प्राप्ति की।

अकबर और उसके बाद के दो बादशाहों, जहांगीर और शाहजहां, ने तो हिन्दुओं के धर्म्म में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया; परन्तु औरंगज़ेब ने अपनी कट्टरता के आवेश में हिन्दुओं को सताना चाहा और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने काशी आदि तीर्थस्थानों के प्रसिद्ध-देव मन्दिरों

---

१ दयालदास की ख्यात; जि० २, पृ० ६१, (हमारे संग्रह की कापी)।

२ अक़बरनामा—बेवरिज कृत अनुवाद; जि० २ पृ० ५१८।

---

1 यह निबंध डूँगरकॉलेज बीकानेर के मेगज़िन वर्ष १ संख्या १ में प्रकाशित हुआ है। उसके विद्वान् संपादक ने श्री ओझाजी के विषय में लिखा है—

श्री ओझाजी भारतवर्ष के विश्वविख्यात इतिहास-लेखक हैं। राजपूत इतिहास पर आप संसार भर में सबसे बड़े प्रमाण Authority हैं। भारतीय प्राचीन लिपिमाला और राजपूताने का इतिहास-आपके सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं; जिनकी प्रशंसा यूरोप, अमेरिका और भारत के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने की है। आप हमारे राजस्थान प्रान्त के महान् रत्न हैं।

को नष्ट कर वहां मस्जिदें बनवाना शुरू किया[१]। उसकी इस नीति के कारण अधिकांश हिन्दू राजा उससे खिंचे रहने लगे। बादशाह कर्णसिंह से अप्रसन्न रहने लगा, इसका स्पष्ट कारण तो फ़ारसी तवारीख़ों में लिखा नहीं मिलता, परन्तु उसकी नियुक्ति औरंगाबाद में करके उसकी जीवितावस्था में ही उसके पुत्र अनूपसिंह को बीकानेर का शासक नियत किया और उसे दो हज़ार जात और डेढ़ हज़ार सवार का मनसब भी प्रदान किया[२]। कर्णसिंह औरंगाबाद में ही अपने नाम पर कर्णपुर बसाकर रहने लगा[३]। जहां वि० सं० १७२६ आषाढ़सुदि ४ (ई० स० १६६६ तारीख़ २२ जून) को उसका देहांत हो गया[४]।

उसका उत्तराधिकारी अनूपसिंह, वीर-लड़ाका था। बादशाह की तरफ़ की दक्षिण[५] और गोलकुंडे[६] आदि की लड़ाइयों में उसने बड़ी वीरता दिखलाई। इसके अतिरिक्त वह बादशाह की तरफ़ से क्रमशः औरङ्गाबाद[७] और अदूणी[८] का शासक भी रहा, जहां का प्रबन्ध उसने बड़ी बुद्धिमानी से किया। वैसे तो उसके पहले से ही बीकानेर के शासकों रायसिंह, कर्णसिंह आदि की प्रवृत्ति विद्याप्रेम की ओर रही थी, परन्तु उसका विकास अनूपसिंह में अधिक हुआ था। वह जैसा वीर था, वैसा ही संस्कृत का विद्वान्, विद्वानों का सम्मानकर्त्ता एवं उनका आश्रयदाता था। उसने स्वयं भिन्न-भिन्न

---

१ दयालदास की ख्यात; जि० २ पृ० ४५।

२ बादशाह औरंगजेब का ता० १६ रबीउल्‌अव्वल सन् जलूस १० (वि० सं० १७२४ आश्विन वदि ३=ई० स० १६६७ ता० २६ अगस्त) का अनूपसिंह के नाम का फ़रमान। वीरविनोद; जि० २, पृष्ठ ६६६ (हमारी हस्तलिखित प्रति से)।

३ दयालदास की ख्यात; जि० २, पृ० ४६।

४ .... अथ संवत्सरेऽस्मिन् नृपतिविक्रमादित्यराज्यात् संवत् १७२६ वर्षे शाके १५६१ प्र० महामांगल्यप्रदे आषाढ़ मासे शुक्ल पक्षे तिथौ ४ भौमवारे .... श्रीकर्णः...... श्रीविष्णुपुरे प्राप्तः।

[महाराजा कर्णसिंह की बीकानेर की स्मारक-छतरी के लेख से]

५ उमराएहनूद; पृ० ६२। व्रजरत्नदास; मआसिरुलउमरा (हिन्दी) पृ० ६०।

६ दयालदास की ख्यात; जि० २, पृ० ४८।

७ उमराएहनूद; पृ० ६३। व्रजरत्नदास; मआसिरुलउमरा; पृ० ६०।

८ दयालदास की ख्यात; जि० २, पृ० ४८।

विषयों पर संस्कृत में कई ग्रन्थ निर्माण किये थे, जिनमें 'अनूपविवेक'[१] (तंत्रशास्त्र), 'कामप्रबोध'[२] (कामशास्त्र) 'श्राद्धप्रयोग-चिन्तामणि'[३] और 'गीतगोविन्द' की 'अनूपोदय' नाम की टीका[४] का निश्चय रूप से पता चलता है। उसके आश्रय में कितने ही संस्कृत के विद्वान् रहते थे, जिन्होंने उसकी आज्ञा से अनेक विषयों के कई संस्कृत ग्रंथ लिखकर उसका नाम अमर किया। उन विद्वानों के लिखे हुए बहुत से ग्रन्थ अब भी उपलब्ध होते हैं। श्रीनाथसूरि के पुत्र विद्यानाथ (वैद्यनाथ) सूरि ने 'ज्योत्पत्तिसार'[५] (ज्योतिष), गङ्गाराम के पुत्र मणिराम दीक्षित ने 'अनूप व्यवहार सागर'[६]

---

१ आफ्रेक्ट; कैटेलॉगस् कैटेलॉगरम, भाग १ पृ० १८।

२ डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र; कैटेलॉग ऑव् संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑव् हिज हाइनेस दि महाराजा ऑव् बीकानेर, पृ० ५३२, सं० ११३३। आफ्रेक्ट; कैटेलॉगस् कै० कैटेलागरम, भाग १, पृ० १८, ६३।

३ वही; पृ० ४७१, संख्या १०१३। आफ्रेक्ट; कै०कै०,भा० १, पृ०१८, ६६६।

४ श्रीमद्राजाधिराजेंद्रतनयोऽनूपभूपतिः।
व्याचक्रे जयदेवीयं सर्गोऽगात्तद्वितीयकाः॥

यह ग्रंथ काश्मीर राज्य के पुस्तक भंडार में है। डाक्टर एम० ए० स्टाइन; कैटेलॉग आव् दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स् इन दि रघुनाथ टेम्पल लाइब्रेरी ऑव् हिज हाइनेस दि महाराजा ऑव् जम्मू एण्ड काश्मीर; पृ० २८०-८१, संख्या १२८६।

५ नत्वा श्रीमदनूपसिंहनृपतेराज्ञावशादुद्धृतं
वक्ष्ये शेषविशेषयुक्तिसहितं ज्योत्पत्तिसारं परं ॥ २ ॥

इति श्रीमन्निखिलभूपालमौलिमालामिलन्मुकुटतटनटन्मरीचिमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितमञ्जुपादाम्बुजयुगलप्रचण्डभुजदण्डचण्डिकाकर्णकुण्डलितकोदण्डताण्डवाखण्डवरदण्डखण्डितारिमुण्डपुण्डरीकमण्डितमहीमंडलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीमदनूपसिंहभूपाज्ञया कारितेऽस्मिन् सकलागमाचार्यश्रीमत्-श्रीनाथसूरिसूनुविद्यानाथविरचिते ज्योत्पत्तिसारे वासनाध्यायः समाप्तः।

डा० राजेन्द्रलाल मित्र; कै० सं० मै० लाइब्रेरी ऑव बीकानेर; पृ० ३०७, संख्या ६६१।

६ कुर्व्वे श्रीमदनूपसिंहवचनात् स्पष्टचर्थसंसूचकम्।
चक्रोद्धारमहं मुहूर्त्तविषये विद्वज्जनानां मुदे॥

(ज्योतिष), 'अनूपविलास'[1] या 'धर्माम्बुधि' (धर्मशास्त्र), भद्रराम ने 'अयुतलक्षहोमकोटिप्रयोग'[2] (यज्ञ विषयक), अनन्तभट्ट ने 'तीर्थ-रत्नाकर'[3] और श्वेताम्बर उदयचन्द्र ने 'पाण्डित्य दर्पण'[4] नामक ग्रंथ की रचना की थी। उस (अनूपसिंह) को राजस्थानी भाषा से भी बड़ी प्रीति थी, जिससे उसने अपने पिता के राजत्वकाल में ही 'शुकसारिका'[5] (सुआ बहोत्तरी) की बहत्तर कथाओं का

इति श्रीगङ्गारामात्मजदीक्षितमणिरामविरचिते अनुपव्यवहारसागरे नानाऋषिसम्मता ग्रहमुहूर्त्तचक्रोद्धाराख्या दशमी लहरी समाप्ता। वही; पृ० २६०, संख्या ६२२।

१ यह पुस्तक अलवर के राजकीय पुस्तकालय में भी है।

डा० राजेन्द्रलाल मित्र; कै० सं० मै० लाइब्रेरी ऑव् बीकानेर, पृ० ३६०, ७७८। आफ्रेक्ट; कैटेलॉगस कैटेलॉगरम्, भाग १, पृ० १८। पीटर्सन; कैटेलॉग ऑव् दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑव् हिज हाइनेज दि महाराजा आव् अलवर, पृ० ५४, संख्या १२४६।

२ इति ग्रहयज्ञत्रयसाधारणविधिः।

इति श्रीमहाराजाधिराजमहाराजानूपसिंहाज्ञया होमिगोपनामकभद्ररामण अयुतहोम-लक्षहोमकोटिहोमास्तथाथर्वणप्रयोगाश्च ॥

डा० राजेन्द्रलाल मित्र; कै०सं०मै०ला० बीकानेर, पृ० ३६५, संख्या ७८८।

३ इति श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीमन्महाराजानूपसिंहस्याज्ञया मीमांसाशास्त्रपाठिना यदुसूनुना अनन्तभट्टेन विरचिते तीर्थरत्नाकरे सकलतीर्थमाहात्म्यनिरूपणं नाम कल्लोलः।

वही; पृष्ठ ४७७, संख्या १०२५।

४ इति सूर्यवंशावतंससदसत्ययोवि(वि)वेचनराजहंसमहारा[ज]श्रीमदनूपसिंह देवेनाज्ञप्तेन श्वेतांबरोदयचंद्रेण संदर्शिते पांडित्यदर्पणे प्रज्ञामुकुटमंडनादर्शो नाम नवमः प्रकाशः।

सी० डी० दलाल; ए कैटेलॉग ऑव् मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि जैन भन्डार्स ऐट् जैसलमेर; पृ० ५६ (गायकवाड्स ओरिएन्टल सिरीज, संख्या २१)।

५ करिप्रणाम श्रीसारदा, अपणां बुद्धि प्रमांण।
सुकसारिक वार्त्ता करु; द्यो मुझ अक्षर दान ॥ १ ॥

संस्कृत से भाषानुवाद किसी विद्वान् से कराया। खेद का विषय है कि उक्त विद्वान् ने उस पुस्तक में कहीं अपना नाम नहीं दिया।

अनूपसिंह जैसा विद्वान् था वैसा ही संगीतज्ञ भी था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहां के दर्बार में संगीतवेत्ताओं का बड़ा आदर रहा, परन्तु औरङ्गजेब ने गद्दी पर बैठने के बाद धार्मिक जिद में पड़कर अपने दरबार में सङ्गीत-चर्चा उठा दी। तब शाही दरबार के सङ्गीतवेत्ताओं ने जयपुर, बीकानेर आदि राज्यों में जाकर आश्रय लिया। उस समय शाहजहां के दरबार के प्रसिद्ध संगीताचार्य जनार्दनभट्ट का पुत्र भावभट्ट (संगीतराय) अनूपसिंह के दरबार में जा रहा, जहां रहते समय उसने 'संगीत अनूपांकुश'[1]

विक्रमपुर सुहांमणो, सुख संपति की ठौर।
हिंदूस्थान हींदूधरम, औसो सहर न और ॥ २ ॥
तिहां तपै राजा करण, जंगल कौ पतिसाह।
ताको कुंवर अनोपसिंह, दाता सूर दुवाह ॥ ३ ॥
जोधवंस आखै जगत, वंस राठौड़ विख्यात।
अजै विजै श्री ऊपना, गोमती गंगामात ॥ ४ ॥
तिण मोकुं आग्या दई, सुप्रसन हुइकै एह।
संस्कृत हुंती वारिता, सुख संपति करि देह ॥ ५ ॥

[हमारे संग्रह की प्रति से]

1 स्तोकं मुद्रामुरीकृत्य सा [र्ध] वर्षत्रयात्मिका।
श्रीमदनूपसिंहस्याज्ञ [ज्ञ] या ग्रंथद्वयं कृतं ॥ २ ॥
एकोनूपविलासाख्योनूपरत्नांक [कु] रः परः
अनूपांकुशनामायं ग्रंथो निःपाद्यतेधुना ॥ ३ ॥

इति चक्रवर्तिप्रवंधः इति श्रीमद्राठवु [ड] कुलदिनकरमहाराजाधिराजश्री-कर्णसिंहात्म [ज] नयश्रीविराजमानचतु [:] समुद्रमुद्रावच्छिन्नमेदिनीप्रतिपाल-नचतुरवदान्य ना [न्यता] तिशयनिर्जितचिंतामणिस्वप्रतापतापितारिवगा [र्ग] धर्म्मावतारश्रीमहाराजाधिराजश्रीमदनूपसिंहप्रमा [मो] दित श्रीमहीमहे [न्द्र] मौलिमुकुटरत्नकिरणनीराजितचरणकमलश्रीसाहजा [साहिजहां] सभामंडनसं-गीतरायजनार्दनमट्टांग [भट्टांग] जांगुष्ट [नुष्टु] प-चक्रवर्तीसंगीतरायभावभट्ट-विरचिते संगीतनूपांकुशे प्रबंधाध्यायः समाप्तः चतुर्थ.........॥

'अनूप संगीत विलास,'[१] 'अनूप संगीत रत्नाकर,[२] 'नष्टोद्दिष्टप्रबोधकध्रौपद टीका[३] आदि ग्रंथों की रचना की। इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ स्वयं महाराजा अनूपसिंह के रचे हुए अथवा उनके दरबार के विद्वानों के बनाये हुए माने जाते हैं;[४] जिनका ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सका।

बादशाह औरंगजेब की कट्टरता यहां तक बढ़ गई थी कि उसकी दक्षिण की चढ़ाइयों के समय वहां के ब्राह्मणों को अपनी पुस्तकें नष्ट किये जाने का भय रहता था। मुसलमानों के हाथ से अपनी हस्त-लिखित पुस्तकों के नष्ट किये जाने की अपेक्षा वे कभी-कभी उन्हें नदियों में बहा देते।

यह ग्रंथ काश्मीर राज्य के पुस्तकभंडार में है।

डाक्टर स्टाइन; कैटेलॉग ऑव दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्टस इन दि रघुनाथ टेम्पल लाइब्रेरी ऑव हिज हाइनेस दि महाराजा ऑव जम्मू एण्ड काश्मीर; पृ० २६७, संख्या ११११५।

१ इति श्रीमद्राठोरकुलदिनकरमहाराजाधिराज श्रीकर्णसिंहात्मजजयश्रीविराजमानचतुःसमुद्रावच्छिन्नमेदिनीप्रतिपालनचतुरवदान्यातिशयनिचितचिन्तामणिप्रतापतापितारिवर्गधर्म्मावतारश्रीमदनूपसिंहप्रमोदितश्रीमहीमहीन्द्रमौलिमुकुटरत्नकिरणनीराजितचरणकमलश्रीसाहेजहांसभामण्डनसङ्गीतराजजनार्दनभट्टाङ्गजानुष्टुप्चक्रवर्त्तिसङ्गीतरायभावभट्टविरचितेऽनूपसङ्गीतविलासे नृत्याध्यायः समाप्तः॥

डा० राजेन्द्रलाल मित्र; कै० सं० मै० ला० बीकानेर, पृष्ठ ५१०, संख्या१०६१।

२ देखो ऊपर पृष्ठ ६३ टिप्पण १।

३ इति श्रीभावभट्टसङ्गीतरायानुष्टुप्चक्रवर्त्तिविरचितनष्टोद्दिष्टप्रबोधक ध्रौपदे समाप्ता। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र; कै० सं० मै० ला० बीकानेर; पृ० ५१४ सं० १०६७।

४ मुंशी देवीप्रसाद ने स्वयं महाराज के बनाये हुए ग्रन्थों की नामावली में नीचे लिखे हुए नाम भी दिये हैं—

सन्तानकल्पलता (वैद्यक)	संगीतानूपराग (संगीत)
चिकित्सा मालतीमाला (वैद्यक)	लक्ष्मीनारायण स्तुति (वैष्णव पूजा)
संग्रह रत्नमाला (वैद्यक)	लक्ष्मीनारायण पूजासार छन्दोबद्ध(वै० पू०)
अनूपरत्नाकर (ज्योतिष)	सांबसदाशिव स्तुति (शिवपूजा)
अनूपमहोदधि (ज्योतिष)	कौतुकसारोद्धार राजविनोद

श्रेयस्कर समझते थे। संस्कृतग्रन्थों के इस प्रकार नष्ट किये जाने से हिन्दू-संस्कृति के नाश हो जाने की पूरी आशंका थी। ऐसी दशा में वीर एवं विद्यानुरागी महाराजा अनूपसिंह ने उन ब्राह्मणों को प्रचुर धन दे-देकर उनसे पुस्तकें खरीदकर बीकानेर के सुरक्षित दुर्ग स्थित पुस्तकभंडार में भिजवाना

संगीत वर्तमान (संगीत) संस्कृत व भाषा कौतुक

नीतिग्रन्थ

महाराजा के आश्रय में बने हुए ग्रंथों के नीचे लिखे नाम भी दिये हैं—

धर्म्मशास्त्र…महाशान्ति, रामभट्ट-कृत।

शान्तिसुधाकर, विद्यानाथसूरि-कृत।

कर्म्म-विपाक…केरली सूर्य्यारुणस्य टीका पन्तुजीभट्ट-कृत।

वैद्यक …अमृतमञ्जरी, होसिंगभट्ट-कृत।

शुभमंजरी, अम्बकभट्ट-कृत।

ज्योतिष …अनूपमहोदधि—वीरसिंह ज्योतिषराट्-कृत।

अनूपमेघलाला—रामभट्ट-कृत।

संगीत …अनूपसंगीतविलास, भावभट्ट-कृत॥

संगीतविनोद, भावभट्टकृत।

संगीत अनूपोद्देश्य, रघुनाथगोस्वामी-कृत।

विष्णुपूजा …नाना छन्दों में श्रीलक्ष्मीनारायणस्तुति–शिव पण्डित कृत।

शिव पूजा—रुद्रपति, रामभट्ट-कृत।

शिवताण्डव की टीका, नीलकण्ठ-कृत।

अनूप कौतुकार्णव, रामभट्ट-कृत।

यन्त्रकल्पद्रुम, विद्यानाथ-कृत।

अनेक प्रकार के छन्दों में-लक्ष्मीनारायणस्तुति,।

यन्त्रचिन्तामणि, दामोदर-कृत।

तन्त्रलीला, तर्कानन सरस्वती भट्टाचार्य-कृत।

सहस्रार्जुन दीपदान, त्रिम्बक कृत।

वायुस्तुतनुष्ठानप्रयोग, रामभट्ट-कृत।

राजधर्म—कामप्रबोध, जनार्दन कृत।

प्रारंभ कर दिया।[१] यह कार्य कितने महत्त्व का था, यह वही समझ सकता है, जिसे बीकानेर राज्य का सुविशाल पुस्तकालय देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। यह कहना व्यर्थ है कि महाराजा अनूपसिंह जैसे विद्यारसिक शासकों के उद्योग के फलस्वरूप ही उक्त पुस्तकालय में ऐसे-ऐसे बहुमूल्य ग्रन्थ अब तक सुरक्षित हैं, जिनका अन्यत्र मिलना कठिन है। मेवाड़ के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के बनाये हुए संगीत-ग्रंथों का पूरा संग्रह केवल बीकानेर के भंडार में ही विद्यमान है। ऐसे ही और भी कई अलभ्य ग्रन्थ वहां विद्यमान हैं। ई० स० १८८० में कलकत्ते के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने इस बृहत् संग्रह की बहुत-सी संस्कृत पुस्तकों की ही सूची ७४५ पृष्ठों में छपवाकर कलकत्ते से प्रकाशित की थी। उक्त संग्रह में राजस्थानी भाषा की पुस्तकों का भी बहुत बड़ा संग्रह है, जिसकी सूची अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

जहां कहीं मुसलमान सैनिक हिन्दू मंदिरों को तोड़ते वहां उनकी मूर्तियों को भी वे नष्ट कर देते थे। ऐसे प्रसंगों पर महाराजा अनूपसिंह ने दक्षिण में रहते समय बहुतेरी पीतल की मूर्तियों की भी रक्षा की और उन्हें बीकानेर पहुँचवा दिया, जहां के किले के एक कमरे में सब, की सब अब तक सुरक्षित हैं और वह कमरा 'तैंतीस करोड़ देवता' के नाम से प्रसिद्ध है।

महाराजा अनूपसिंह जैसे विद्याप्रेमी, विद्वान् और विद्वानों के आश्रयदाता राजा राजपूताने में कम हुए हैं और इस दृष्टि से उसका नाम संसार में सदैव अमर रहेगा।

दशकुमारप्रबन्ध, शिवराम-कृत।
माधवीय कारिका, शांबभट्ट-कृत।
(मुंशी देवीप्रसाद; राजरसनामृत; पृ० ४६-४८)

(१) दयालदास की ख्यात; जि० २, पृ० ५०।

१३ महाराजा सवाई जयसिंह

जन्म और बाल्यकाल

आंबेर के महाराजा विष्णुसिंह के दो कुँवर—जयसिंह और विजयसिंह हुए। वि० सं० १७४५ मार्गशीर्ष वदि ६ (ई० स० १६८८, ता० ३ नवम्बर) शनिवार को राठोड़ इन्द्रकुँवरी के गर्भ से महाराजा जयसिंह का जन्म हुआ।[1] उसका असली नाम विजयसिंह था।[2] उसके पिता ने उसकी शिक्षा के लिये प्रसिद्ध संस्कृत पण्डित माधवभट्ट पर्वणीकर को नियत किया[3] और उसके साथ रहने के लिये योग्य पुरुष रखे गये, जिससे बाल्यावस्था से ही उसका अच्छा भविष्य देख पड़ने लगा।

उसके पिता का देहान्त वि० सं० १७५६ माघवदि ७ (ई० स० १७००, १ जनवरी) को काबुल में हुआ। मुगल-साम्राज्य में उदयपुर के अतिरिक्त अन्य सब हिन्दू राजाओं को अपने पिता का देहान्त होने पर उसका उत्तराधिकार पाने (मातमपुरसी कराने) के लिये बादशाह के पास जाना पड़ता था। तदनुसार अपने पिता की मृत्यु के समाचार पहुँचने पर वह बादशाह औरङ्गजेब के पास पहुँचा; उस समय बादशाह मुगल-साम्राज्य की नींव को हिलाकर अपना अन्तिम समय दक्षिण में बिता रहा था।

उसकी परीक्षा करने के विचार से बादशाह ने उसके दोनों हाथ पकड़कर पूछा 'अब तू क्या कर सकता है?' बालक विजयसिंह ने बुद्धिमानी के साथ तुरन्त उत्तर दिया—'अब तो मैं बहुत कुछ

---

१ कच्छवंश महाकाव्य, सर्ग १० वाँ। महाराजा की जन्मपत्री। वीरविनोद, प्रकरण बारहवाँ।

२ वीरविनोद, प्रकरण बारहवाँ। मआसिरुलउमरा (हिन्दी, हिन्दु मंसबदारों का वृत्तान्त) पृ० १६४।

३ कच्छवंश महाकाव्य, सर्ग १० वाँ।

कर सकता हूँ; क्योंकि जब पुरुष औरत का एक हाथ पकड़ लेता है, तब उस औरत को कुछ अधिकार प्राप्त हो जाता है। आप जैसे बड़े बादशाह ने तो मेरे दोनों हाथ पकड़ लिये हैं, अतएव मैं तो सब से बढ़कर हो गया।' उसके उत्तर से प्रसन्न होकर बादशाह ने कहा कि यह बड़ा होशियार होगा, इसका नाम सवाई जयसिंह (अर्थात् मिर्जा राजा जयसिंह से बढ़कर) रखना चाहिये। तदनुसार बादशाह ने उसका नाम जयसिंह रखा और उसका असली नाम विजयसिंह—उसके छोटे भाई को दिया [1]।

जयसिंह का दक्षिण में रहना

बादशाह ने उसे आंबेर का राजतिलक और डेढ़ हजारी जात व १५०० सवार का मंसब देकर अपने पास रखा [2]। वि० सं० १७५८ (ई० स० १७०१) में वह असदखाँ के साथ खेलना का किला विजय करने को भेजा गया। उस समय उस बालक राजा ने बड़ी वीरता दिखलाई और उसके राजपूतों ने ऐसी तलवार चमकाई कि बादशाह ने उसका हाल सुनने पर उसका मंसब दो हजारी जात और दो हजार सवार कर दिया [3]।

औरंगजेब की मृत्यु और उसके पुत्रों में युद्ध

वि० सं० १७६३ फाल्गुनवदि १४ (ई० स० १७०७ ता० २१ फ़रवरी) को अहमदनगर (दक्षिण) में बादशाह औरङ्गज़ेब की मृत्यु हुई। उससे पहले ही उसका सब से बड़ा शाहजादा सुलतान मुहम्मद मर चुका था, इसलिये उसके दूसरे शाहजादे मुअज्जम ने, जो अपने पिता की मृत्यु के समय काबुल में था, अपने को बादशाह मान लिया और उसके छोटे भाई आज़म ने, जो दक्षिण में था और जिसके साथ राजा जयसिंह था, उधर अपने को बादशाह प्रकट कर दिया। वे दोनों दिल्ली के तख्त के लिये रवाना हुए और उनमें धौलपुर तथा आगरे के बीच जाजऊ के पास बड़ी लड़ाई हुई, जिसमें आज़म मारा गया और मुअज्जम बहादुरशाह नाम धारण कर दिल्ली के सिंहासन का स्वामी हुआ। उस लड़ाई में जयसिंह आज़म की सेना में था और उसका भाई विजयसिंह मुअज्जम के साथ था, परन्तु उस (जयसिंह) को आज़म की हार दीखने लगी, तब वह उसको छोड़कर मुअज्जम की सेना से जा मिला [4]।

---

१ वीरविनोद, प्रकरण बारहवाँ। कच्छवंश महाकाव्य, सर्ग १० वाँ।

२ मआसिरुल उमरा (हिन्दी), पृ० १६४। वीरविनोद, प्रकरण बारहवाँ। उमराय हनूद, पृ० १७७।

३ वही। ४ वही।

महाराजा जयसिंह से आँबेर का राज्य छूटना

जाजऊ के युद्ध में विजयसिंह, मुअज्ज़म (बहादुरशाह) के साथ रहकर लड़ा था, इसलिये बादशाह बनने पर उसने उसको तीन हज़ारी मंसब दिया। आंबेर की गद्दी भी वह उसी को देना चाहता था, इससे दोनों भाइयों में आंबेर की गद्दी के लिये विरोध खड़ा हुआ। बहादुरशाह दोनों को प्रसन्न रखना चाहता था, अतएव उसने आंबेर को शाही खालसे में मिलाकर सैयद हुसैनखाँ बारहा को आंबेर का फ़ौजदार नियत किया।[1]

महाराजा का बादशाह के साथ नर्मदा तक जाना

बहादुरशाह के छोटे भाई कामबख़्श ने दक्षिण में विद्रोह किया, तब वह उसको दबाने के लिये दक्षिण को चला और आंबेर होता हुआ वि० सं० १७६४ फाल्गुन सुदि १२ (ई० सन् १७०८ ता० २१ फरवरी) को मेड़ते पहुँचा, जहाँ महाराजा जयसिंह तथा महाराजा अजीतसिंह (जोधपुर का), दोनों अपने राज्य पीछा पाने की आशा से उसकी सेवा में पहुँचे और नर्मदा-तटस्थ मंडलेश्वर (इन्दौर राज्य में) तक उसके साथ रहे. परन्तु जब उन्होंने देखा कि राज्य मिलने की कोई आशा नहीं है और उन पर बादशाह की ओर से निगरानी रखी जाती है। तब बिना सूचना दिये ही वे दोनों अपने डेरे-डंडे वहीं छोड़ कर उदयपुर की ओर चले और उन्होंने महाराणा अमरसिंह (दूसरे) को अपने आने की सूचना दी।[2]

उदयपुर की राजकुमारी से विवाह करना तथा अपना राज्य पीछा लेना

महाराणा ने उन दोनों को बड़े सम्मान के साथ अपने यहां रखा, जिसकी खबर पाकर शाहज़ादे मुइज्ज़ुद्दीन जहाँदारशाह ने महाराणा के पास ता० १४ सफ़र सन् २ जुलूस (वि० सं० १७६५ ज्येष्ठवदि १=ई० सन् १७०८ ता० २४ अप्रेल) को एक निशान भेजकर लिखा कि "अजीतसिंह, जयसिंह और दुर्गादास जागीर और तनख़्वाह न मिलने के कारण भाग गये हैं; तुम्हें चाहिये कि उन्हें अपने पास नौकर न रखो और उन्हें समझा दो कि वे बादशाह के पास अर्ज़ियाँ भेजें; मैं उनके अपराध क्षमा करा दूँगा और उन्हें जागीरें भी दिलवा दूँगा।" महाराणा ने उनसे क्षमा प्रार्थना की अर्ज़ियाँ लिखवाकर शाहज़ादे के द्वारा बादशाह के पास भिजवादी और उन्हें उदयपुर में ही रखा।[3]

---

१ मआसिरुल उमरा (हिन्दी)। वीरविनोद, प्रकरण बारहवाँ। उमराय हनूद।

२ मेरा उदयपुर राज्य का इतिहास, जिल्द दूसरी, पृ० ६०३।

३ वही; पृ० ६०३-४।

उस समय से बहुत पूर्व ही उदयपुर के महाराणाओं ने जयपुर के राजाओं के साथ का विवाह-सम्बन्ध तोड़ दिया था, परन्तु उदयपुर की राज-कन्या से विवाह करने में अपना गौरव समझ कर महाराजा जयसिंह ने महाराणा की राजकुमारी चन्द्रकुँवरी से इस शर्त पर भी विवाह करना स्वीकार किया कि यदि उससे पुत्र हो तो वह छोटा होने पर भी युवराज माना जाय। विक्रम सं० १७६५ आषाढ़ वदि २ (ई० सन् १७०८ ता० २५ मई) को महाराजा ने महाराणा अमरसिंह (दूसरे) की राजकुमारी से विवाह कर लिया।[1] उस विवाह की यह शर्त महाराणा के लिये भले ही गौरव की मानी जाय, तो भी यह सर्वथा अनुचित थी और राजपूताने के लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई; क्योंकि उसी के कारण महाराजा जयसिंह के देहावसान के पश्चात् मेवाड़ और जयपुर के राजाओं में युद्ध ठन गये, जिससे दोनों राज्यों को बड़ी हानि पहुँची और राजपूताने पर मरहठों का प्रभाव बढ़ता ही गया।

उदयपुर में रहते समय उक्त तीनों राजाओं ने मिलकर यह स्थिर किया कि बादशाह से जोधपुर और जयपुर के राज्यों की आशा छोड़कर अपने बाहुबल से ही उन्हें अपने हस्तगत कर लेना चाहिये। इस पर महाराणा ने भी उनकी सहायतार्थ अपनी सेना दो अधिकारियों की अध्यक्षता में उक्त महाराजाओं के साथ कर उनको वहाँ से विदा किया। तीनों राजाओं की सम्मिलित सेना ने जोधपुर को जा घेरा, जिस पर जोधपुर का शाही फ़ौजदार कुछ शर्तों के साथ जोधपुर छोड़कर चला गया और वहाँ महाराजा अजीतसिंह का अधिकार हो गया। फिर उस सम्मिलित सैन्य ने आंबेर को प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचने के पूर्व ही उधर दीवान रामचन्द्र और श्यामसिंह कछवाहा आदि ने शाही फ़ौजदार हुसैनखाँ को आंबेर से निकाल दिया और महाराजा जयसिंह आंबेर पहुँचते ही फिर अपने पैतृक राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।[2] इस घटना की सूचना अजमेर के सूबेदार शुजाअ-तखाँ ने बादशाह को दी। बादशाह ने दक्षिण से लौटते ही उन दोनों राजाओं को दंड देने के लिये तैयारी की, परंतु इतने में पंजाब से सिक्खों के उपद्रव की खबर आई, जिससे उन पर चढ़ाई करना स्थगित रखा। वे दोनों भी खानखाना मुअज्ज़मखाँ तथा महाबतखाँ की सलाह से बादशाह के पास उपस्थित होगये और उनका अपराध क्षमा किया गया।[3]

दिल्ली की बादशाहत की स्थिति

औरंगज़ेब के पिछले समय से ही दिल्ली की बादशाहत कमज़ोर होती गई और बहादुरशाह

---

१ मेरा उदयपुर राज्य का इतिहास पृ० ६०४।

२ वही पृ० ६०५-६।

३ उमराय हनूद पृ० १७८। वीरविनोद प्रकरण ग्यारहवाँ।

के समय उसमें और भी खराबी हुई। वि० सं० १७६८ फाल्गुनवदि ७ (ई० स० १७१२ ता० १८ फरवरी) को उस (बहादुरशाह) की मृत्यु होने पर उसका शाहज़ादा जहाँदारशाह अपने भाइयों से लड़ता रहा और उनको नष्ट कर लाहौर में बादशाह बना; परन्तु नौ महीने बाद आगरे के पास की लड़ाई में क़ैद होकर अपने भतीजे फर्रुखसियर की आज्ञा से मारडाला गया। तदनंतर वह (फर्रुख़सियर) अलाहाबाद के सूबेदार सैयद अब्दुल्लाखाँ और उसके भाई बिहार के सूबेदार सैयद हुसेनखां की सहायता से दिल्ली के तख़्त पर बैठा। फिर उसने अब्दुल्लाखां को कुतुब-उल-मुल्क का ख़िताब व सात हज़ारी ज़ात व सवार का मन्सब देकर अपना वज़ीर-आज़म और हुसेनअलीखां को इमादुलमुल्क का ख़िताब व सात हज़ारी ज़ात व सवार का मन्सब देकर बख्शि-उल् मुल्क बनाया। किंतु उसने सैयदों की इच्छा के विरुद्ध मन्सब और पद देना आरंभ किया, जिससे वे बादशाह से असंतुष्ट रहने लगे। उसके राज्य के प्रारंभिक काल से मुहम्मदशाह के राज्य के आरंभ तक इन दोनों भाइयों की ही दिल्ली में तूती बजती रही। महाराजा का सैयदों से बराबर विरोध बना रहा, परंतु उसने उनकी कुछ भी पर्वाह नहीं की।[१]

महाराजा की चूड़ामणि जाट पर चढ़ाई

वि० सं० १७७४ (ई० सन् १७१७) में बादशाह फ़र्रुखसियर ने 'राजाधिराज' का ख़िताब, मन्सब की वृद्धि, जवाहिर, हाथी और कई लाख रुपये देकर महाराजा जयसिंह को चूड़ामणि जाट को दमन करने के लिये भेजा। महाराजा ने एक वर्ष तक किला घेर कर शत्रु को ऐसा तंग किया कि वह बंदी होजाता, परन्तु सैयद अब्दुल्लाखाँ से विरोध होने के कारण उसको महाराजा की नेकनामी स्वीकार नहीं थी, इसलिये उसने पीछे से खानेजहाँ को भेज चूड़ामणि से सुलह करली। महाराजा को यह बात बहुत ही बुरी मालूम हुई और वह वहाँ से नाराज़ होकर लौट गया।[२]

फर्रुख़सियर की मृत्यु

बादशाह फ़र्रुख़सियर सैयदों के दबाव से मुक्त होना चाहता था, इससे वे दोनों भाई बादशाह के विरुद्ध हो गये और जोधपुर का महाराजा अजीतसिंह भी सैयदों से मिल गया, अब इन लोगों ने बादशाह को क़ैद कर राज्यच्युत कर देना चाहा। उस समय फ़र्रुख़सियर के सहायकों में मुख्य महाराजा जयसिंह ही था। उसने बादशाह को सलाह दी कि सैयदों पर आक्रमण कर देना चाहिये, किंतु बादशाह ढील करने लगा। बादशाह की माँ सैयदों के विरुद्ध जो मंत्रणा होती उसकी सूचना

---

१ वीरविनोद, प्रकरण ग्यारहवाँ। उमराय हनूद पृ० १७८।

२ वीरविनोद, प्रकरण ग्यारहवाँ।

तत्काल ही उन्हें दे देती थी,[१] जिससे सैयद लोग सावधानी-पूर्वक रहते थे। इतने में दक्षिण से हुसेनअलीखां भी अपनी सेना सहित आ पहुंचा और दिल्ली के बाहर उसने डेरा डाला, इससे सैयदों का बल बढ़ गया। उपद्रव की आशंका देख पड़ी। फ़रु ख़सियर पर सैयदों का आतङ्क छा रहा था, इसलिये उसने इन दोनों भ्राताओं को प्रसन्न करना चाहा। उन्होंने बादशाह से कहा कि इन बखेड़ों की जड़ महाराजा जयसिंह है, यदि वह अपने वतन को चला जाय तो शांति स्थापित हो सकती है। इस पर फ़रु ख़सियर ने महाराजा से कहा कि अगर तुमको मेरी भलाई करना इष्ट है, तो फ़ौरन अपने वतन को चले जाओ। महाराजा जयसिंह इस समय दिल्ली में केवल फ़रु ख़सियर के हित के लिये ही ठहरा था; जब बादशाह के मुँह से ये शब्द सुने, तो उसको बादशाह की कमअक्ली का ज्ञान होगया, फिर भी उसने बादशाह से कहा कि इस समय आपके प्राण मेरे यहाँ रहने ही से बच रहे हैं। मैं चला जाऊंगा, तो सैयद-सहज में ही आपको मार डालेंगे, इसकी मुझे चिन्ता है। पर यह बात बादशाह की समझ में नहीं आई; निदान् महाराजा जयसिंह वहाँ से अपनी राजधानी को लौट गया[२]।

दिल्ली से महाराजा जयसिंह के चले जाने का सुअवसर पाकर सैयदों और जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह ने मिलकर वि० सं० १७७५ फाल्गुनसुदि ९ (ई० सन् १७१९ ता० १७ फरवरी) को फ़रु ख़सियर को जनान-खाने से पकड़ मंगाया और क़ैद कर आँखों में सलाई फिरवादी। वह क़ैद से भाग कर जयसिंह के पास जाना चाहता था, परन्तु इसका भेद सैयदों को मिल गया[३] तब उसको जल्लादों के द्वारा गला घुटवाकर मरवा डाला। फिर उन्होंने रफ़ीउद्दरजात को, जो शाहआलम का पोता और रफ़ीउश्शान का बेटा था, बादशाह बना दिया, किन्तु वह तीन महीने में ही मर गया। तब उसका बड़ा भाई रफ़ीउद्दौला बादशाह बनाया गया, पर वह भी तीन महीने से अधिक जीवित न रहा।

महाराजा जयसिंह का शाही प्रदेश पर अधिकार करना

फ़रु ख़सियर को क़ैद कर बुरी तरह से मार डालने का संवाद सुन कर महाराजा जयसिंह को बड़ा दुःख हुआ, उसने आततायियों को सज़ा देने का पूर्णरूप से विचार कर लिया और मरने-मारने का इरादा कर केसरिया वस्त्र पहन, तुलसी की मंजरियाँ सिर पर धर अपनी सेना सहित वह राजधानी

---

१ वीरविनोद, प्रकरण ग्यारहवाँ।

२ वही।

३ वही।

आंबेर से रवाना हुआ। मार्ग में वह बादशाही प्रदेश को लूटकर वहाँ अपना अधिकार जमाता जाता था[1]। इधर दिल्ली में रफ़ीउद्दजात के गद्दी पर बैठने और मरजाने एवं आगरे में सैयदों के विरोधियों द्वारा बादशाह औरङ्गजेब के पुत्र अकबर के बेटे निकोसियर को बादशाह बनाने का समाचार उसने सुना। उस समय उसने सैयदों के विरोधियों का पक्ष लिया। इस गड़बड़ी में उसने शाही प्रदेश का बहुत-सा भाग आंबेर के राज्य में मिलालिया, जिससे उसके राज्य की सीमा आगरे से केवल ८० मील ही दूर रह गई थी। सैयदों ने महाराजा को इस प्रकार तेज़ी से बढ़ता हुआ देख उसके मुक़ाबले के लिये सैयद दिलावरखाँ को भेजा, परन्तु वह उसका कुछ भी बिगाड़ न कर सका। अब सैयदों ने रफ़ीउद्दौला की जगह शाह आलम के पोते और खुजिस्ता अख्तर के बेटे मुहम्मदशाह को वि० सं० १७७६ (ई० सन् १७१९) में दिल्ली का बादशाह बनाया[2]। फिर उसको साथ लेकर उन्होंने निकोसियर को आगरे से निकाल कर उसके हिमायतों को सज़ा देने के लिये प्रस्थान किया। महाराजा जयसिंह भी अपनी सेना के साथ मथुरा के करीब जा ठहरा। निकोसियर का पक्ष प्रबल नहीं था और और जिन जिन लोगों को सहायता की आशा थी, वे समय पर नहीं आए, जिससे वह सैयदों के आने पर आगरे भाग गया। फिर सैयदों ने महाराजा जयसिंह पर चढ़ाई की, पर अंत में उससे सुलह होगई[3]।

सैयदों का अंत

सैयदों के कठोर व्यवहार से मुहम्मदशाह को भी उनसे घृणा होगई थी और वह उनको दूर करना चाहता था। निज़ामुलमुल्क और सैयदों के परस्पर वैमनस्य होजाने का अवसर देख बादशाह ने निज़ामुलमुल्क को मिला लिया। फिर सैयदों और निज़ामुलमुल्क में परस्पर युद्ध होने लगा, जिनमें निज़ामुलमुल्क की विजय हुई। वि० सं० १७७७ (ईस्वी सन् १७२०, में दक्षिण की तरफ जाते हुए फतहपुर से पैंतीस कोस तोरा मुक़ाम के समीप मुहम्मदशाह की माँ की सलाह के अनुसार मीर हैदरखाँ काशगरी के हाथ से सैयद हुसेनअलीखाँ मारा गया। अब्दुल्लाखाँ ने अपने भाई हुसेनअलीखाँ की मृत्यु के समाचार सुन बदला लेने के लिये दिल्ली में रफ़ीउद्दरजात के बेटे सुलतान इब्राहिम को तख्त पर बिठला कर बादशाह प्रसिद्ध किया और नई सेना भरती कर मुहम्मदशाह को पदच्युत करने को रवाना हुआ। बादशाह उस समय बाहर था।

---

१ इर्विन; लेटर मुग़लस् जि० २ पृ० ३।

२ वीरविनोद, प्रकरण ग्यारहवाँ।

३ मआसिरुलउमर (हिन्दी पृ० १६६, टिप्पण २।

वह भी अपनी सेना तैयार कर अब्दुल्लाखाँ से लड़ाई के लिये आ डटा। उसकी सेना में महाराजा जयसिंह के तीन-चार हजार सवार आ गये थे, उनको मुहम्मदशाह ने विश्वसनीय समझ अपने जनानखाने की हिफ़ाजत पर नियत किया। हसनपुर के पास अब्दुल्लाखाँ की सेना से युद्ध हुआ, जिसमें वह गिरफ्तार किया गया और लगभग दो वर्ष क़ैद रहने के बाद मर गया मुहम्मदशाह का अब खटका मिट गया और वह निर्भयता पूर्वक शासन करने लगा[1]

महाराजा का जजिया माफ़ करवाना

बादशाह फ़र्रुखसियर ने अपने राज्य के आरम्भ में जजिये का दुःखदायी कर माफ़ कर दिया था, परन्तु मक्के के शरीफ़ की अर्जी आने पर पुनः इस कर को लेना चाहा, जिससे हिन्दू राजाओं पर बुरा प्रभाव पड़ा और वे फ़र्रुखसियर से उदासीन हो गये। सैयदों का अन्त होने पर मुहम्मदशाह के समय वि० सं० १७७७ (ई० सन् १७२०) में महाराजा जयसिंह दिल्ली पहुँचा और उसने मुहम्मदशाह को समझाकर इस कर को बन्द करवा दिया।[2]

महाराजा के सम्मान में वृद्धि और जाटों पर विजय

बादशाह मुहम्मदशाह ने सैयदों के उपद्रव के समय महाराजा जयसिंह की भेजी हुई सेना द्वारा की गई सेवाओं को स्मरण कर उसको 'राजराजेश्वर' व 'सरमदराजहाय' की उपाधियों से विभूषित किया। वि० सं० १७८० (ईस्वी सन् १७२३) में उसको आगरे का सूबेदार बनाया; फिर उसे जाटों के उपद्रव को मिटाने के लिये रवाना किया तो उसने थूनव तह न (तवनगढ़ ?) पर अधिकार कर उनको तावे किया।[3]

जयपुर नगर को बसाकर उसे राजधानी बनाना

वि० सं० १७८४ पौषवदि ८ (ई० सन् १७२७ ता० २५ नवम्बर) शनिवार[४] को उक्त महाराजा ने अपनी राजधानी जयपुर नगर की नींव डाली। इस नगर को बसाने में केवल भारत के ही नहीं, सुदूरवर्ती देशों के चतुर इंजीनियरों द्वारा नक्शे बनवाये गये थे। उनमें से एक पसन्द कर उसके अनुसार नगर-निर्माण कराया। भारतवर्ष में इसके समान सुन्दर नगर दूसरा कोई नहीं है।

---

१ वीरविनोद, प्रकरण ग्यारहवाँ।

२ वही।

३ इर्विन; लेटर मुग़लस् जि० २ पृ० १२४।

४ जयपुर नगर के शिलान्यास की कुंडली।

सड़कें, मध्य में बड़े-बड़े चौराहे, जहाँ फव्वारे लगे हुए हैं; ऊँची-ऊँची हवेलियें, विशाल राज-भवन अनेक देवालय बनवाये, जो दर्शकों के चित्त को आकृष्ट किये बिना नहीं रहते। प्रत्येक मकान के बीच गली रखी गई जिससे सर्वत्र वायु संचार भली भाँति हो सकता है इस नगर की प्रशंसा क्या देशी, क्या विदेशी सभी लोग मुक्त-कंठ से करते हैं! यह नगर महाराजा के नगर-निर्माण सम्बन्धी अद्भुत ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण है

कुँवर माधवसिंह का जन्म और उसके नाम पर रामपुरे का पट्टा लिखवाना

उदयपुर वाली महाराणी चंद्रकुँवरी के गर्भ से पहले एक कन्या हुई, जिसका विवाह जोधपुर के महाराजा अभयसिंह से कर दिया। वि० सं० १७८६ पौष वदि १२ (ई० स० १७२९ ता ६ दिसंबर) को उक्त महाराणी के गर्भ से कुँवर माधवसिंह का जन्म हुआ। उदयपुर में इस राणी के विवाह के समय की हुई शर्त के कारण महाराजा को माधवसिंह का जन्म होने से भविष्य में अपने राज्य में लड़ाई-झगड़ों की आशंका जान पड़ी। जिससे वह महाराणी, अपने पुत्र की प्राण-रक्षा के लिये उसको लेकर उदयपुर चली गई[1]।

मालवे के अन्तर्गत रामपुरे का परगना चंद्रावतों के अधिकार में था। बादशाह फर्रुखसियर के अहद में महाराणा संग्रामसिंह (दूसरे) ने महाराजा सवाई जयसिंह के द्वारा प्रयत्न कर उस परगने को अपने नाम पर लिखा लिया। महाराणा ने रामपुरे का आधा परगना अपने राज्य में मिला लिया और आधा चंद्रावतों को इस शर्त पर दिया कि वे अन्य सरदारों की भांति सेवा करें। चंद्रावत यद्यपि मेवाड़ के राज्यवंश से ही थे, परंतु वे शाही दरबार से संबंध रहने के कारण अकबर के समय से ही अपने को अन्य रईसों की भांति समझते थे। उनको मेवाड़ के अधीन रहना पसंद नहीं था, जिससे वे कभी-कभी उपद्रव भी कर दिया करते थे। एक दिन उदयपुर में महाराजा सवाई जयसिंह से उक्त महाराणा ने चंद्रावतों की सर्कशी का हाल कहा, जिस पर महाराजा ने उत्तर दिया कि यदि रामपुरे का परगना मेरे सुपुर्द कर दिया जावे, तो मैं चंद्रावतों को सीधा कर दूँगा। महाराणा बड़ी दुविधा में पड़े, परन्तु अंत में उन्होंने रामपुरे के परगने का पट्टा उक्त महाराजा की इच्छानुसार माधवसिंह के नाम वि० सं० १७८६ चैत्र सुदि ७ (ई० स० १७२९ ता० २५ मार्च) मंगलवार को लिख दिया[2]। इस पर महाराजा जयसिंह ने वहाँ पर अपना अधिकार जमाकर चंद्रावतों का उपद्रव मिटा दिया।

---

१ वीरविनोद, प्रकरण ग्यारहवाँ।

२ वही। मेरा उदयपुर राज्य का इतिहास जि० २ पृ० ६१८।

बूंदी के राव राजा बुधसिंह को निकाल दलेलसिंह को वहाँ का राजा बनाना

बूंदी के राव राजा बुधसिंह का विवाह महाराजा जयसिंह की बहिन अमरकुंवरी के साथ हुआ था। बुधसिंह कौल मत (वाम मार्ग का) अनुयायी था और उसकी कछवाही रानी वैष्णव धर्मानुयायिनी थी, जिससे उन दोनों में परस्पर अनबन रहती थी। बुधसिंह, अपनी चूँडावत रानी पर जो बेगूँ (मेवाड़) के रावत की पुत्री थी, विशेष प्रेम होने के कारण कछवाही रानी के गर्भ से पैदा हुए पुत्र को बूँदी राज्य के अधिकार से वंचित रखने के लिये कृत्रिम बतलाता था। इसलिये महाराजा जयसिंह ने उससे यह इक़रार लिखवा लिया कि "चूँडावत रानी के पुत्र उत्पन्न होने पर मैं उसे आपको सौंप दूँगा और जिसको आप नियत करेंगे, वही मेरे बाद बूँदी का स्वामी होगा।" इस इकरार का बुधसिंह ने पालन नहीं किया और चूँडावत रानी के गर्भ से उम्मेदसिंह का जन्म होने पर बुधसिंह ने उसे जयसिंह को नहीं सौंपा। तब महाराजा जयसिंह ने नाराज होकर करवड़ के स्वामी सवाईसिंह के पुत्र दलेलसिंह को उसका उत्तराधिकारी बनाकर उस (बुधसिंह) को वि० सं० १७८६ (ई० स० १७२६) में बूंदी से निकाल दिया। वह बेगूँ में जारहा और वहीं उसकी मृत्यु हुई[1]।

महाराजा का मालवे के सूबे पर जाना

उन दिनों मरहटों का प्रभाव भारत में बड़े जोर से बढ़ रहा था, और मालवे के प्रदेश को वे लोग अपने अधिकार में कर उत्तरी भारत में प्रवेश करना चाहते थे। उनको रोकने के लिए बादशाह मुहम्मदशाह ने वि० सं० १७८६ (ई० स० १७३२) में महाराजा जयसिंह को मालवे का सूबा भी सौंप दिया। महाराजा ने दिल्ली के बादशाहों को प्रमादग्रस्त और शक्तिहीन समझ मरहटों से बिगाड़ नहीं, किंतु मेल रखना चाहा; क्योंकि उन दिनों उनका भाग्योदय हो रहा था। महाराजा को मुसलमान बादशाहों के जुल्म के कारण उनसे आन्तरिक घृणा भी होगई थी, जिससे वह उनकी शक्ति क्षीण करने के लिए मरहटों के उत्थान में सहायक हुआ; परंतु आगे जाकर उसका विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध हुआ, क्योंकि मरहटों से राजपूताने को बड़ी क्षति उठानी पड़ी।

संघ शक्ति बनाने का प्रयत्न

मालवे की तरफ़ मरहटों को पैर बढ़ाते देख राजपूताने के नरेशों को अपनी अपनी रक्षा की चिंता उत्पन्न हुई और मेवाड़, आंबेर, जोधपुर एवं बीकानेर के राजा संगठन-शक्ति को बढ़ाने का विचार कर सलाह के लिए मेवाड़ के हुरड़ा गाँव में वि० स० १७६१ (ई० स० १७३४ में एकत्र

---

१ वंश भास्कर बुधसिंह चरित्र पृ० ३२८५। मेरा उदयपुर राज्य का इतिहास जि० पृ० ६३२, ८६४।

हुए। उन्होंने आसपास के अन्य राजाओं को भी बुला लिया। सबने मिलकर वहाँ एक अहदनामा बनाया, परंतु सबका स्वार्थ एक नहीं था। मेवाड़ वालों को बड़प्पन का विचार और अन्य राजाओं को राज्यवृद्धि की लालसा होने के कारण उनको दूसरे के राज्य को हड़प जाने की धुन थी, जिससे उसका कोई फल नहीं निकला[1]।

महाराजा का जयपुर में वाजपेय यज्ञ करना

मुसलमानों के भारतवर्ष में प्रवेश करने से पूर्व ही वाजपेय आदि यज्ञों का होना बन्द होगया था। इसलिए उक्त प्रथा को फिर जारी करने और अपना बड़प्पन बतलाने के लिए उक्त महाराजा ने वाजपेय (येनेष्ट्वा वाजपेयेन) यज्ञ का करना निश्चय कर देश-देशांतरों से वेद-पारंगत ब्राह्मणों को बुलाया और यज्ञ की सामग्री एकत्र की गई। मीनों के द्वारा दक्षिण से वरदराज विष्णु की मूर्ति मँगवाई गई। यज्ञ में दक्षिणी ब्राह्मणों की प्रधानता थी, उसमें भी पौंडरिक रत्नाकर मुख्य था। यज्ञ का आरम्भ वि० सं० १७६१ श्रावणसुदि ६ (ई० सं० १७३४ ता० २८ जुलाई) को हुआ। भाद्रपद सुदि १२ को मानसागर के जल में तीर्थोदक मिलाकर महाराज ने अवभृथ स्नान किया। फिर यज्ञ की पूर्णाहुति होने पर महाराजा ने बहुत से गाँव, दास–दासी और पौने दो लाख रुपये दक्षिणा में दिये। यज्ञ की सामग्री भी एक लाख रुपये के मूल्य की थी[2]।

ऐसी भी प्रसिद्धि है कि यज्ञ का घोड़ा नगर और उसके आसपास ही फिराया गया और पीछे सेना रही, तो भी कुंमाणियों ने उस घोड़े को पकड़ लिया। महाराजा की सेना ने उनको छोड़ देने के लिये समझाया, परन्तु वे टस से मस न हुए और उन्होंने नम्रता–पूर्वक उत्तर दिया कि घोड़े के सिर पर लगे हुए सुवर्ण पत्र में यह लिखा है कि कोई क्षत्रिय हो तो उसे पकड़े। क्या हम निःक्षत्रिय हैं ? यदि वह सुवर्ण–पत्र हटा दिया जाय तो हम सहर्ष घोड़ा छोड़ देंगे। महाराजा की सेना ने यह बात स्वीकार न की। अन्त में मुठ्ठी–भर कुंमाणियों ने जयपुर की विशाल सेना से युद्ध कर अक्षय कीर्ति प्राप्त की।

मालवे का सूबा बाजीराव पेशवा को सौंप देना

मरहटों के बाल–सूर्य की भाँति बढ़ते हुए प्रताप को देखकर उक्त महाराजा को मालवे में मरहठों से बिगाड़ करने में अपनी हानि का भय हुआ और इस स्थिति में अपना वहाँ रहना ठीक

---

१ मेरा उदयपुर राज्य का इतिहास पृ० ६२६।

२ कच्छवंश महाकाव्य सर्ग ग्यारहवाँ।

नहीं समझ उसने वि० सं० १७९२ (ई० स० १७३५) में बादशाह मुहम्मदशाह से आज्ञा लेकर इस शर्त पर कि 'पेशवा सदैव बादशाह के अधीन रहकर मालवे का शासन करेगा', उक्त इलाके की सूबेदारी बाजीराव पेशवा को दिला दी[1]।

जोधपुर के महाराजा अभयसिंह पर चढ़ाई कर उससे फौज-खर्च लेना

गुजरात की सूबेदारी पाने और सरबलंदखाँ से अहमदाबाद ले लेने के पश्चात् मारवाड़ का महाराजा अभयसिंह अपने को शक्तिशाली समझने लगा। उस (अभयसिंह) ने वि० सं० १७९७ (ई० स० १७४०) में बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह पर चढ़ाई करदी। अभयसिंह की नीति से उसका भाई बख्तसिंह (नागोर का स्वामी) भी असंतुष्ट था और वह अपने भाई को अपमानित करना चाहता था, इसलिये उसने बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह को महाराजा जयसिंह से सहायता लेने की सलाह दी। इस पर गजसिंह ने महाराजा अभयसिंह की चढ़ाई का हाल जयपुर लिख भेजा। उसको पढ़कर महाराजा जयसिंह ने बीकानेर की सहायतार्थ जाना उचित समझ मेवाड़ के महाराणा जगत्सिंह (दूसरे) को भी इस सलाह में शामिल किया और अभयसिंह के विरुद्ध युद्ध के लिये वह रवाना हुआ। महाराजा जयसिंह को एक बड़ी सेना के साथ आता देख अभयसिंह बीकानेर से लौट गया, तो महाराजा जयसिंह ने जोधपुर को जा घेरा। उस समय महाराजा अभयसिंह के लिये और कोई उपाय नहीं था, क्योंकि जयसिंह की सैनिक-शक्ति विशेष थी, साथ ही मेवाड़ का महाराणा भी उसकी सम्मति में था। इसलिये उसने उससे लड़ाई करना नहीं चाहा। अन्त में बीस लाख रुपये सेना-व्यय के लेकर महाराजा (जयसिंह) वहाँ से लौटा।

गंगवाणा के युद्ध में नागोर के बख्तसिंह की पराजय

जयपुर के स्वामी-द्वारा मारवाड़ के राजा से सेना-व्यय लेना राठोड़ों को बड़ा अपमानजनक जान पड़ा। तब उन्होंने इसका बदला लेने के लिए नागोर के स्वामी बख्तसिंह को भी अपने में शामिल कर लिया और अभयसिंह तथा बख्तसिंह महाराजा जयसिंह से लड़ने के लिये रवाना हुए। अभयसिंह बख्तसिंह से नाराज था, उसका यह मेल अस्थायी और केवल धोखा देने के लिए ही था; क्योंकि वह अपने निर्बुद्धि पुत्र रामसिंह की करतूतों से जानता था कि मेरे मरने पर बख्तसिंह उससे जोधपुर का राज्य छीन लेगा। इसलिये उस (बख्तसिंह) की शक्ति क्षीण करने के लिए उसको आगे बढ़ाकर आप पीछे रह गया। वि० स० १७९८ (ई० स० १७४१) में गंगवाणा गाँव के पास

---

१ वीरविनोद, प्रकरण ग्यारहवाँ। इर्विन; लेटर मुग़लस् पृ० २४७-४९, २५६। मेरा उदयपुर राज्य का इतिहास पृ० ६२९।

जयपुर की सेना से बख्तसिंह का युद्ध हुआ, जिसमें उस (बख्तसिंह) को हार कर भागना पड़ा[1]।

शेखावाटी को अधीन करना

कछवाहा राजा उदय-करण का वंशज शेखा प्रसिद्ध राजपूत हुआ, उसके वंशज शेखावत कहलाये। शेखा अपने बाहुबल से बहुतसा-नया इलाका जीतकर आंबेर से स्वतन्त्र हो गया और उसके वंशजों (शेखावतों) के अधीन का प्रदेश 'शेखावाटी' कहलाया। ये लोग बादशाही मंसबदार भी होगये। मुगल साम्राज्य की अवनति के दिनों में शेखावतों के ठिकाने खंडेले के दो भाइयों में बखेड़ा होने पर एक ने महाराजा जयसिंह का आश्रय लिया, उस समय जयसिंह ने खंडेले को अधीन कर उसके दो विभाग कर उन्हें दोनों भाइयों को बाँट दिया। फिर क्रमशः सारे शेखावाटी प्रदेश पर आंबेर का अधिकार हो गया। उनका बल तोड़ने के लिए उनमें यह रीति प्रचलित करदी गई कि एक सरदार के जितने पुत्र हों, वे सब अपने पिता की जागीर और संपत्ति का बराबर-बराबर भाग करलें। इस प्रथा के जारी होने से शेखावतों का गिरोह निर्बल होकर जयपुर के अधीन रहने लगा[2]।

महाराजा का विद्यानुराग

हिन्दुओं में समय-समय पर अनेक विद्वान् एवं वीर राजा हुए, जिनमें परमार राजा भोज महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भा) आदि के नाम अब तक प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के समान महाराजा जयसिंह भी इन दोनों बातों के लिए प्रसिद्ध हुआ। वह संस्कृत और फ़ारसी का विद्वान् होने के अतिरिक्त सिद्धान्त-ज्योतिष का असाधारण ज्ञाता था। सूर्य-चन्द्र के ग्रहणों तथा ग्रहों के उदयास्त में अन्तर पड़ता देखकर उसने उसको दृक्तुल्य का करने का विचार किया और अनेक संस्कृत विद्वान् ज्योतिषियों को अपनी सेवा में रखा। पुराने मुसलमान ज्योतिषियों में से उलगबेग, नासिरुद्दीन तूसी और जमशेद काशी के ग्रन्थ और सारणियाँ भी देखी गईं। यूरोप के ज्योतिषियों में से फ्रेंच विद्वान् डी० ला० हीरे (P. De La Hire) की खगोल-सम्बन्धी सारणियाँ और जान फ्लेमस्टीड का ग्रन्थ (Historia Coelistis Britannica) भी देखा, परन्तु उनसे भी अन्तर पड़ता देख उसको सन्तोष न हुआ। उसने अपने समय तक का बिल्कुल अन्तर मिटाकर शुद्ध ग्रहगणित तैयार करना स्थिर किया। जब पादरे मेन्युअल (Padre Mannuel) ने, जो वैद्य और ज्योतिषी था, महाराजा से निवेदन किया कि पुर्तगाल में ज्योतिष की बड़ी उन्नति है, तब

---

१ वीरविनोद, प्रकरण दशवाँ। वंशभास्कर, उम्मेदसिंह चरित्र; पृ० ३३११।

२ टाड-राजस्थान, (अँग्रेज़ी, नवीन संस्करण), जि० ३, पृ० १३७८-८५। जे० सी० ब्रुकस; पोलीटिकल हिस्ट्री आफ दी जयपुर पृ० ६।

शहर दे दिया, जिससे मल्हारराव होल्कर नाराज़ हुआ और उसने जयपुर को घेर लिया। परिणाम यह हुआ कि मन्त्री हरगोविंद नाटाणी के धोखा देने से ईश्वरीसिंह को विष खाकर मरना पड़ा और जयपुर राज्य को बड़ी-बड़ी मुसीबत झेलनी पड़ी।

महाराजा जयसिंह का व्यक्तित्व

महाराजा जयसिंह वीर, बुद्धिमान्, चतुर, विद्या को उन्नति देने वाला, विद्वानों का परीक्षक, राजनीति का पूर्ण ज्ञाता तथा अपने विचार और धुन का पक्का था। वह साम, दाम, दंड और भेद-नीति से अपना काम निकालने में सदा तत्पर रहता। नगर-निर्माण और शिल्प-कला का वह पूरा ज्ञाता था, जिसकी साक्षी उसका निर्माण कराया हुआ सुन्दर जयपुर शहर और उसकी कारीगरी है। अठारहवीं सदी में मार-काट और राज्य विप्लव के समय भी उसने विद्या सम्बन्धी कार्यों की बड़ी उन्नति की, जो उसके समय की बनी हुई पाँच-वेधशालाओं तथा उस समय के ग्रंथों से सिद्ध है। यथार्थ में वह राजपूताने का अपने समय का चाणक्य था और बड़े-बड़े काम सहज में कर लेता था। वह समाज-सुधार का भी पक्षपाती था। उस समय तक ब्राह्मण वर्ण में अनेक उपजातियाँ हो गई थीं, जिनमें पारस्परिक भोजन-व्यवहार नहीं था। ऐसी प्रसिद्धि है कि महाराजा ने वाजपेय यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों की इस परस्पर की संकीर्णता को मिटाने के लिये उद्योग किया, जो पूर्ण रूप से सफल न हुआ, तो भी छः जाति के ब्राह्मणों ने एक साथ बैठकर भोजन करना स्वीकार किया, जो अब तक 'छन्यात' के नाम से प्रसिद्ध हैं और अब तक उनमें परस्पर भोजन व्यवहार प्रचलित है। राजपूतों में विवाह आदि के अवसर पर व्यय करने के सम्बन्ध में भी उसने नियम बनाये थे; परन्तु राजपूतों की परस्पर की फूट से उनका प्रचार न हो सका। वैरागी साधु लोग गृहस्थी न होने के कारण कुछ दुराचरण में प्रवृत्त हो जाते थे, अतएव व्यभिचार को मिटाने के लिये महाराजा ने उनको गृहस्थी बनाने का उद्योग किया और मथुरा में वैरागपुरा[1] बसाकर उनको वहाँ आबाद किया।

महाराजा ने जयपुर के सिक्कों के वजन में भी हेरफेर कर उनका वज़न नियत किया और नये तोल भी जारी किये। वह प्रजा के दुःख की कथा सुनता और उसके साथ न्याय करता, आततायियों को सदा दंड देता और दीन दुखी जनों की पीड़ा-निवारण में वह कटिबद्ध रहता था। वह बड़ा उदार और धर्मात्मा था, उसने सुवर्ण के तुलादान दिये और लगभग ३० करोड[2] रुपये धार्मिक कार्यों तथा पुरस्कार में व्यय किये। जगह जगह कुँए, बावड़ियें और धर्मशालाएँ बनवाई और तीर्थ स्थानों में सदाव्रत जारी किये।

---

१ कविराजा बाँकीदास; ऐतिहासिक बातें सं० ६५५।

२ इलियट, हिस्ट्री आफ इंडिया, जि० ८ पृ० ३४३।

जयपुर का विशाल राज्य जो इस समय विद्यमान है, उसही महाराजा की बुद्धिमानी का फल है। राजा भारमल के पूर्व आंबेर का राज्य छोटासा ही था। राजा भगवानदास1 से विष्णुसिंह तक वहाँ के राजा बादशाहों की कृपा से बड़े अमीर बनकर दूसरे देशों में बड़ी-बड़ी जागीर तथा सूबेदारियाँ पाते रहे, परन्तु राजपूताने में इतना बड़ा राज्य स्थापित करने का श्रेय तो महाराजा जयसिंह को ही प्राप्त हुआ।

राजपूतों के इतिहास में स्वार्थ-वश अपने पिता, पुत्र, माता और भाई को मारने के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार उक्त महाराजा ने भी अपने पुत्र शिवसिंह को विष द्वारा मरवाया था[1]।

इस लेख में हमने महाराजा जयसिंह की जीवन सम्बन्धी कुछ ही घटनाओं और उसके कतिपय कार्यों का बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया है, यदि उसका इतिहास विस्तृत रूप से लिखा जाय तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है।

---

१ राजपूताने में इस विषय का नीचे लिखा दोहा प्रसिद्ध है, जो उसी समय के कवि करणीदान ने कहा था—

जयपुर और जोधाणपति, दोनों ही थाप-उथाप।
कूरम मारयो डीकरो, कमधज मारयो बाप॥

(मलसीसर ठा० भूरसिंह संग्रहीत विविध संग्रह पृ० १३७)।

कच्छवंश महाकाव्य के कर्त्ता ने भी इस बात को स्वीकार किया है (दापयित्वा विषं हंत पित्रा जयपुरे हृतः)।

---

1. सम्पादकीय टिप्पण—आंबेर के राजा भारमल के पीछे उसके राज्य का उत्तराधिकारी उस (भारमल) का ज्येष्ठ पुत्र भगवंतदास हुआ। भगवंतदास के मानसिंह, माधवसिंह आदि पुत्र हुए, जिनमें ज्येष्ठ मानसिंह ने, अपने पिता का आंबेर राज्य पाया। ऐसा तत्समयक शिलालेखों, ख्यातों आदि से पाया जाता है। भगवानदास, भगवंतदास का छोटा भाई था। वह तो कभी आंबेर का राजा ही नहीं हुआ तुजुके जहांगिरी आदि में आंबेर के राजाओं में भगवानदास नाम है, वह फ़ारसी भाषा की अपूर्णता अथवा भ्रम ही समझना चाहिये।

१४ कविराजा बाँकीदास

वीर-भूमि राजस्थान डिंगल-भाषा के कवियों की खान है। समय-समय पर यहाँ ऐसे कवि-रत्न उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने युद्धों के प्रसंगों पर ओजस्विनी रचनाओं द्वारा जादू का काम किया है। आज से लग-भग १५० वर्ष पूर्व मारवाड़ में एक ऐसे ही व्यक्ति का जन्म हुआ था, जो सच्चा कवि, इतिहास का मर्मज्ञ और साहित्य में उच्च कोटिका विद्वान् था। अतएव इस लेख द्वारा पाठकों को उक्त राजस्थान के कवि-रत्न का यत्किंचित् परिचय कराया जाता है।

चारण और भाटों का राजपूतों में दीर्घ काल से बड़ा मान चला आ रहा है। सच पूछा जाय तो क्षत्रियों की वीरता को जीवित रखनेवाले भी यही लोग रहे हैं। यही कारण है कि राजस्थान में इन लोगों को बड़ी-बड़ी जागीरें मिली हुई है। इस लेख के चरित्र-नायक कवीराजा बाँकीदास का जन्म चारण-जाति के आसिया-कुल में, वि० सं० १८२८ (ई० स० १७७१) में जोधपुर-राज्य के पचमदरा-परगने के भांडियावास-गाँव में, हुआ था। अपने पिता से कविता का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर वि० सं० १८५४ (ई० सं० १७९७) के लगभग वह जोधपुर गया। वहाँ निरंतर पाँच वर्ष तक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भाषा के काव्य-ग्रन्थ, व्याकरण में सारस्वत और चंद्रिका, साहित्य में कुवलयानंद तथा काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर हिंदी भाषा के काव्य-ग्रन्थों द्वारा उसने विस्तृत ज्ञान-वृद्धि की।

उस समय मारवाड़-राज्य के सिंहासन को महाराजा मानसिंह सुशोभित करते थे, जो विद्या-रसिक, काव्य-प्रेमी और कवियों के आश्रय-दाता थे। वि०सं० १८६० (ई०सन् १८०३) में बाँकीदास की पहुँच उक्त महाराजा के पास हुई। उनकी अद्भुत् कवित्व-शक्ति, सत्यवादिता और निर्भीकता आदि गुणों से मुग्ध होकर प्रथम अवसर पर ही उक्त गुणग्राही महाराजा ने उसको लाख-पसाव-नामक पारितोषिक देकर अपने राजकवियों में स्थान दिया। महाराजा मानसिंह स्वयं कवि था। उसने अपनी ज्ञान-शक्ति का विकास करने के लिये बाँकीदास से साहित्य के ग्रंथों का पढ़ना आरंभ किया, और उसमें शीघ्र ही अच्छी गति प्राप्त कर ली। महाराजा ने उसको 'कविराजा' की उपाधि, ताज़ीम पाँव में सोना और हाँथीपसाव आदि से सम्मानित किया, तथा काग़ज़ों पर लगाने के लिये

मोहर (मुद्रा) रखने का मान दिया, और उसमें उसको अपना शिक्षा-गुरु होने के वाक्य खुदवाने की आज्ञा दी, जो नीचे-लिखे अनुसार है—

"श्रीमान् मान धरणिपति बहु-गुन-रास,
जिन भाषा गुरु कीनो बाँकीदास ।"

शरीर स्थूल होने के कारण कविराजा बाँकीदास को चलने-फिरने में कठिनाई होती थी, और वृद्धावस्था में वह पैदल चलने में असमर्थ हो गया था। वह जब जोधपुर के क़िले में जाता तो जहाँ तक सवारी जाती है, वहाँ तक पालकी में बैठकर जाता; उसके आगे कहार तथा छोटे नौकर उसको लकड़ी के पाटे पर बिठाकर ले जाते थे। ज्यों ही उसका पाटा महाराजा मानसिंह के सामने पहुँचता, त्यों ही महाराजा खड़े होकर उसको ताज़ीम देते और वह पाटे पर बैठा हुआ ही महाराजा को बिरुद सुनाता था।

वह डिंगल-भाषा एवं पिंगल-शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता तथा आशुकवि था। उसकी धारणा-शक्ति इतनी प्रबल थी कि एक बार भी किसी के मुँह से कोई बात सुनता, तो उसको ज्यों-की त्यों अपने मुँह से सुना देता था। उसकी वीर-रसपूर्ण कविता बड़ी चित्ताकर्षक होती थी। उसका इतिहास-ज्ञान भी बढ़ा-चढ़ा था। एक बार ईरान का कोई सरदार भारतवर्ष की सैर करता हुआ जोधपुर पहुँचा, और महाराजा से मुलाक़ात होने पर उसने किसी इतिहासवेत्ता से बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। इस पर महाराजा ने बाँकीदास को ही उपयुक्त समझ इस सरदार के पास भेजा। ईरानी सरदार उससे मिलकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसने उसके ऐतिहासिक ज्ञान की प्रशंसा लिखकर महाराजा के पास भेजी, जिससे महाराजा ने बड़ा गौरव समझा।

कविराजा बड़ा स्वाभिमानी था। एक समय महाराजा मानसिंह नेत्र-रोग से पीड़ित हुए, और वह पीड़ा छः मास तक बनी रही। विवश होकर महाराजा ने आँखों को दूषित वायु से बचाने के लिये पर्दे के भीतर रहना स्वीकार किया, और राज्य के कर्मचारियों को अपने सामने बुलाना छोड़ दिया। उन दिनों राजकर्मचारियों को महाराजा से कोई बात कहनी होती, तो वे पर्दे के बाहर बैठकर निवेदन करते थे। उस अवसर पर एक दिन महाराजा को कविराजा की आवश्यकता हुई। दो-तीन बार नौकर भेज उनको हाजिर होने के लिये कहलाया, किंतु प्रत्येक बार उसने बीमार होने का बहाना किया। तब उसके पुत्र ने उसको महाराजा के अप्रसन्न होने का डर दिखलाकर महलों में जाने का आग्रह किया। इस पर उसने पर्दे के बाहर बैठकर महाराजा से बात करने में अपना अपमान होना प्रकट कर महाराजा के पास जाने से साफ इनकार किया। यह बात उस सेवक ने ज्यों-की-त्यों महाराजा से कह सुनाई। इस पर महाराजा ने उस सेवक को फिर

भेजकर कविराजा को कहला भेजा कि यदि मेरी आँख की पीड़ा बढ़ जावे, तो कोई चिंता नहीं, पर आपको बाहर बिठलाकर बात नहीं करूँगा। तब वह दरबार में गए। गुण-ग्राहक महाराजा ने नेत्र की पीड़ा होने पर भी कविराजा को अपने सम्मुख बुलाकर बात-चीत की।

महाराजा ने अपने राजकुमार छत्रसिंह की शिक्षा का भार भी कविराजा पर छोड़ा था; किन्तु कविराजा ने कुँवर के लक्षण देखकर जान लिया कि वह अवगुणों का भंडार है, उस पर शिक्षा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा, इसलिये उसने राजकुमार को शिक्षा देना छोड़ दिया। महाराजा मानसिंह को जब ज्ञात हुआ कि कविराजा राजकुमार को शिक्षा देने के लिये नहीं जाते, तब उसने उससे राजकुमार को न पढ़ाने का कारण पूछा। कविराजा ने कहा "यह कुपूत है, इसको शिक्षा देकर मैं अपनी कीर्ति में बट्टा लगाना नहीं चाहता।" आगे जाकर उनका कथन अक्षरशः ठीक निकला और महाराजा मानसिंह को छत्रसिंह के कारण बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ उठानी पड़ी।

कविराजा की अद्भुत् काव्य-कला की प्रशंसा सुन मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह ने जो काव्य के ज्ञाता थे, उन्हें उदयपुर बुलाकर विशेष रूप से उनका सम्मान करना चाहा, परंतु उन्होंने जोधपुर-नरेश के अतिरिक्त अन्य जगह से दान न लेने की प्रतिज्ञा कर ली थी, इसलिये महाराणा से प्रतिग्रह लेना अस्वीकार कर उसके लिये धन्यवाद-पूर्वक क्षमा-याचना की।

कविराजा बड़ा निर्भीक था। एक बार जोधपुर में बहुत वर्षा हुई, और सूरसागर-तालाब जल से परिपूर्ण हो गया। उस अवसर पर वर्षा-ऋतु के आनंद को लूटने के लिये महाराजा सपत्नीक सूरसागर गए, और कविराजा भी पालकी में बैठकर रवाना हुए। मार्ग में जनानी सवारी जा रही थी, जिसके साथियों ने उनको ठहर जाने के लिये कहा; किंतु उन्होंने महाराजा के नाराज होने की कुछ भी परवा न कर कहा—"ऐसी रानियाँ बहुतसी जाती हैं।" जब सूरसागर पर जनानी सवारी पहुँची और रानी ने बाँकीदास की धृष्टता का हाल महाराजा से निवेदन करना चाहा, तो महाराजा ने यही उत्तर दिया—'हम यहाँ आमोद-प्रमोद के लिये आए हैं, इसलिये जिस किसी को हमारे आनन्द में बाधा उपस्थित करना हो, वही यहाँ अर्ज करे; नहीं तो जोधपुर लौटने के बाद जो कुछ अर्ज करना हो, करे।' फिर महाराजा जोधपुर लौटे, तब रानी ने कविराजा की गुस्ताख़ी की बात महाराजा से कह सुनाई इस पर महाराजा ने उत्तर दिया—"यदि मैं चाहूँ, तो आप-जैसी बहुत रानियाँ ला सकता हूँ, परन्तु ऐसा दूसरा कवि मुझको नहीं मिल सकता। इसलिये अब इस विषय में मौन धारण करना ही अच्छा होगा।" इस पर वह चुप्प हो गई।

महाराजा मानसिंह के पूर्व जोधपुर की गद्दी पर उसका चचेरा भाई भीमसिंह था। भीमसिंह ने गद्दी पर बैठते ही अपने कई भाई–भतीजों को मरवा डाला था। इस कारण महाराजा मानसिंह वहाँ से भागकर जालोर में, जो बचाव के लिये सुरक्षित स्थान था, जा बैठा। उसको वहाँ से निकालने के लिये महाराजा भीमसिंह ने सिंघवी इन्द्रराज को सेना देकर भेजा, जिसने जालोर के क़िले को घेर लिया, और मानसिंह को यहाँ तक तंग किया कि वह विवश होकर क़िले से निकल जायँ। उक्त क़िले में जलंधरनाथ का एक स्थान था। वहाँ के आयस (कनफड़ानाथ) देवनाथ ने उससे कहा–"यदि आप छः दिन और इस क़िले में रह जाओगे, तो यह आपके हाथ से कभी न निकल सकेगा, और आप मारवाड़ के स्वामी होकर जोधपुर पहुंचोगे।" इन वाक्यों पर उसको दृढ़ विश्वास हो गया, और अनेक आपत्तियाँ सहने पर भी उन्होंने जालोर के क़िले को न छोड़ा। इन्हीं दिनों जोधपुर से महाराजा भीमसिंह के देहान्त हो जाने का समाचार इन्द्रराज को मिला। जोधपुर का तमाम सैनिक-बल इंद्रराज के अधिकार में था, इसलिये उसने सोचा, यदि कोई दूसरा गद्दी पर बैठ गया, तो सरदार उसे अपने काबू में कर लेंगे, और मानसिंह को गद्दी पर बिठाया जाय, तो वह अपने हाथ में रहेगा और उस पर यह बड़ा उपकार का काम होगा। निदान उसने महाराजा मानसिंह को यह सूचना देकर बिना संकोच उन्हें जोधपुर चलने के लिये कहलाया, परन्तु उसे विश्वास नहीं हुआ। अन्त में जब उसे निश्चित रूप से भीमसिंह की मृत्यु का हाल ज्ञात हुआ और उसके विरुद्ध होनेवाले षड्यंत्र का भय मिट गया, तब वह जालोर से आकर जोधपुर के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसके बाद महाराजा ने आयस देवनाथ की भविष्यवाणी को स्मरण कर उसको अपना गुरु बनाया, जिससे नाथों का उपद्रव बहुत बढ़ा; परंतु महाराजा सदा उस बात की उपेक्षा ही करते रहे। अंत में नाथों के उपद्रव से तंग होकर सरदारों ने आयस देवनाथ को अमीरख़ाँ पठान के द्वारा मरवा डाला और कुँवर छत्रसिंह को महाराजा के हाथ से राज्याधिकार दिलवा दिया। इतना ही नहीं, कुँवर को चांपासेनी के वल्लभ-संप्रदाय के गोसाईं द्वारा मंत्रोपदेश दिलवाया, जिससे वहाँ कनफड़ों का प्रभाव हटने लगा। उस समय कविराजा ने महाराजा के अप्रसन्न होने की कुछ भी परवाह न कर नाथों का निंदा-सूचक एक सवैया कहा, जिसका अंतिम चरण इस प्रकार है—

"मान को नंद गोविंद रहे, उद, फटे कनफट्टन की।"

युवराज छत्रसिंह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। तदनंतर फिर राज्याधिकार महाराजा मानसिंह ने अपने हस्तगत कर लिया। नाथों के बड़े पक्षपाती होने के कारण उक्त महाराजा ने कविराजा के कहे हुए उक्त दोहे से चिढ़कर उनको दंड देना चाहा। महाराजा के क्रूर स्वभाव से कविराजा अपरिचित न थे। इसलिये जो नौकर उसे बुलाने आया, उससे कहा कि मैं हाज़िर होता हूँ,

तुम चलो। किंतु वह महाराजा के पास नहीं गया, और तेज़ चलने वाले ऊँट पर सवार होकर, मारवाड़ का परित्याग कर मेवाड़ चल दिया। वहाँ पर उसका वैसा ही आदर रहा, जैसा जोधपुर में था। महाराजा को कविराजा के मारवाड़ छोड़ देने पर बड़ा दुःख हुआ। अंत में उसने बहुत कुछ अनुनय-विनय करके उसको फिर जोधपुर बुला लिया।

श्रावण-सुदि ३, वि० सं० १८९० (ई० स० १८३३) को कविराजा का परलोक-वास हुआ। महाराजा मानसिंह को उनकी मृत्यु पर बड़ा शोक हुआ, और निम्न-लिखित सोरठों में उन्होंने अपने हृदयोद्गार प्रकट किए—

"सद्विद्या बहु साज, बाँकी थी बाँका बसु;
कर सुधी कवराज, आज कठीगो आसिया।
विद्या कुल विख्यात, राज काज हर रहसरी;
बाँका तो विण बात, किण आगल मनरी कहाँ।"

कविराजा बाँकीदास-रचित डिंगल और ब्रजभाषा के छोटे-बड़े कई ग्रंथ हैं और उनकी फुटकर कविताएँ और गीत तो अनेक हैं। महाभारत के कुछ अंश का हिंदी-अनुवाद भी उसने किया था, परंतु अभी तक वह अप्रकाशित ही है। मरु-भाषा की गंगालहरी आदि २४ ग्रंथों में से निम्न-लिखित ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ने बालाबक्श राजपूत-चारण-पुस्तकमाला में, दो भागों में, प्रकाशित किए हैं।

पहले भाग में :— (१) सूर-छत्तीसी, (२) सीह-छत्तीसी, (३) वीर-विनोद, (४) धवल-पच्चीसी, (५) दातार-बावनी, (६) नीति-मंजरी और (७) सुपह-छत्तीसी।

दूसरे भाग में :— (१) वैसक-वार्ता, (२) मावड़िया-मिजाज, (३) कृपण-दर्पण, (४) मोह-मर्दन, (५) चुगल-मुख-चपेटिका, (६) वैस-वार्ता, (७) कुकवि-बत्तीसी, (८) विदुर-बत्तीसी, (९) भुरजाल-भूषण और (१०) गंगालहरी।

अप्रकाशित :— (१) भमाल, (२) जेहल-जस-जड़ाव, (३) सिधराव-छत्तीसी, (४) संतोष-बावनी, (५) सुजस-छत्तीसी, (६) वचन-विवेक-पच्चीसी और (७) कायर-बावनी।

कविराजा बांकीदास की कविता डिंगल-भाषा में प्रायः वीर-रस-पूर्ण हुआ करती थी, जिसका राजपूताने में बड़ा सम्मान है, किन्तु समय-समय पर उसने अपनी कविता में अन्य रसों का भी प्रयोग किया है। कहते हैं, जयपुर और जोधपुर के महाराजों के आपस के वैर को मिटाने के लिये महाराजा मानसिंह ने अपनी कन्या का विवाह जयपुराधीश जगत्सिंह के साथ तथा जगत्सिंह ने अपनी बहन का

विवाह मानसिंह के साथ कर दिया था। उस समय हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पद्माकर और बांकीदास के बीच काव्य-चर्चा हुई, जिसमें बांकीदास ने बाजी मार ली। उसकी डिंगल-भाषा की कविता ओज-पूर्ण, प्रसाद-गुण-युक्त, उत्कृष्ट एवं सुघरी हुई होती थी। उसका ऐतिहासिक ज्ञान भी अगाध था। मेरे संग्रह में उसकी लिखी हुई अनुमानतः २,८०० ऐतिहासिक बातों का संग्रह है, जो अब तक अप्रकाशित है। वह संग्रह केवल राजपूताने के इतिहास के लिये ही उपयोगी है; इतना ही नहीं किन्तु राजपूताना के बाहर के राज्यों तथा मुसलमानों के इतिहास की भी उसमें कई बातें उल्लिखित हैं [1]।

सुधा, (मा० प०) लखनऊ;
वर्ष ६, खंड १, सं०

---

१ कविराज बाँकीदास का पौत्र मुरारिदान साहित्य का विद्वान् और अच्छा कवि था। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह (दूसरे) के नाम पर उसने अलंकार का भाषा में 'जसवंतजसोभूषण' नामक वृहद् ग्रंथ रचा। उसकी योग्यता आदि सद्गुणों से प्रेरित हो अँग्रेजी सरकार ने उसको महामहोपाध्याय का खिताब दिया था।

१५ जज़िया

भारत के मुसलमान-कालीन इतिहास में जजिया-कर एक विशेष स्थान रखता है। हिन्दू-जागृति के कारणों में भी यह कर एक कारण हुआ, क्योंकि इस अपमानजनक कर के कारण हिन्दुओं में मुसलमान शासकों के प्रति घृणा और क्रोध के भाव बहुत पैदा हुए। स्कूलों में इतिहास पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी इसके नाम से परिचित हैं, परन्तु यह कर क्या था, कबसे और क्यों लगाया गया था, किस तरह लिया जाता था, इत्यादि बातों से बहुत कम लोग परिचित हैं। अतएव हम 'त्यागभूमि' के पाठकों के परिचय और मनोरंजन के लिये उसका कुछ विवेचन यहाँ करते हैं।

मुसलमानों का राष्ट्र-सम्बन्धी विचार यह था कि राष्ट्र का स्वामी एक ईश्वर है और मुसलमान राज्य-कर्त्ता उस ईश्वर का प्रतिनिधि है। इसी सिद्धान्त के अनुसार खलीफा धर्म और राज्य दोनों का सन्चालक माना जाता था। उनका धर्म-ग्रंथ कुरान ही धर्म और क़ानून दोनों का प्रतिपादक ग्रंथ माना जाता है। इसलिए कुरान को न मानने वाले सब लोग उनकी दृष्टि में धर्मच्युत और राज्य-द्रोही समझे जाते थे। जिस देश को वे विजय करते थे, वहाँ के लोगों को बलात् अपने धर्म के अनुयायी बनाते थे उनके विजित किये हुए देशों में मुसलमान-धर्म को स्वीकार न करने वाला राज्य का नागरिक नहीं समझा जाता था, और शासक उसके जान-माल की रक्षा के लिए उत्तरदायी नहीं होते थे। वह घृणित दृष्टि से देखा जाता था और उसको मुसलमान नागरिकों के समान पोशाक पहनने, शस्त्र रखने और घोड़े पर चढ़ने का अधिकार नहीं रहता था [१]। इसलिए उसको राज्य में रहने देने के बदले में उससे एक प्रकार का कर लिया जाता था, जो 'जजिया' कहलाता था। इस कर का आदेश उनके धर्म-प्रवर्तक ने कुरान में किया है। [२]

---

१ इन्साइक्लोपीडिया आफ़ इस्लाम; जिल्द १, पृष्ठ ६५८; १०५१। जदुनाथ सरकार; हिस्ट्री आफ़ औरंगजेब जिल्द ३, पृष्ठ २८३-८७।

२ सरकार; औरंगजेब; जि० ३, पृ० २८८।

मुहम्मद बिन क़ासिम ने वि० सं० ७६८ में सिन्ध को विजय किया। उस समय हज्जाज [1] ने, वहाँ के हिन्दुओं पर, जिन्होंने मुस्लिम धर्म स्वीकार नहीं किया, जजिया लगाने के लिए अबु ख़ुफ़ास क़ुतैब बिन मुस्लिम को वहाँ भेजा। उसने वहाँ के हिन्दुओं से जजिया लेने की व्यवस्था कर ख़ुरासान जाने के बाद हज्जाज ने तमीम बिन ज़ैद को उसी काम के लिए सिन्ध में नियत किया। [2]

मुसलमान-धर्म स्वीकार न करने वाले 'ज़िम्मी' (काफ़िर) कहलाते थे। खलीफ़ा उमर [3] ने उनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया। साधारण अवस्था का पुरुष १२ दिरम (द्रम्म, क़रीब चार आने का सिक्का), मध्यम स्थिति का २४ दिरम और अच्छी स्थिति का ४८ दिरम वार्षिक कर दिया करे। यह विभाग उनकी आय पर निर्भर था। १०,००० दिरम या उससे अधिक आय वाला उत्तम श्रेणी में, २०० दिरम से १०,००० दिरम तक आय वाला मध्यम श्रेणी में और २०० दिरम तक आय वाला तृतीय श्रेणी में माना जाता था। जब सिन्ध में यह कर लगाया गया, तो वह दिरम में न लिया जाकर उतने तोल की चांदी में लिया जाने लगा। स्त्रियों, बच्चों और काम करने में असमर्थ पुरुषों से यह कर नहीं लिया जाता था। भारतवर्ष में ब्राह्मणों की बहुत प्रतिष्ठा होने के कारण उनको भी इस कर से मुक्त कर दिया गया [4]।

'ज़िम्मी' (कर देने वाले) का अपमान कई प्रकार से किया जाता था। एक दिन क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन ने अलाउद्दीनखिलजी को कहा था कि क़ानून के अनुसार हिन्दू कर देने वाले हैं। जब कर लेने वाला कर्मचारी उनसे चांदी मांगे, तो उन्हें बिना आनाकानी किये नम्रता के साथ सोना देना चाहिये। यदि वह कर्मचारी उनके मुँह पर धूल फेंके तो हिन्दुओं को बिना किसी झिझक के अपना मुँह खोल देना चाहिए। इन अपमान-जनक क्रियाओं से ज़िम्मी की अत्यन्त नम्रता और इस्लाम का

---

१ हज्जाज बड़ी वीर प्रकृति का अरब सेनापति था, जिसको उम्मियाद वंश के पांचवें खलीफ़ा अब्दुलमलिक ने अरब और ईरान का शासक नियत किया था। हज्जाज बड़ा ही निर्दयी था और कहते हैं कि अपने जीवनकाल में उसने १,२०,००० आदमियों को मरवाया था और उसकी मृत्यु के समय उसके यहां ५०,००० आदमी क़ैद थे।

२ इलियट; हिस्ट्री आफ़ इण्डिया; जि० १, परिशिष्ट पृष्ठ ४७६।

३ यह हि० स० १३ से २३ (वि० स० ६९१ से ७०१) तक खलीफ़ा रहा।

४ इलियट; जि० १, परिशिष्ट पृष्ठ ४७७। इरविन; लेटर मुग़ल्स; जि० १, पृ० ३६८। सरकार; औरंगजेब; जि० ३, पृ० ३०७।

उद्देश्य स्पष्ट प्रकट होता है। परमात्मा ने ऐसा करने की स्वयं आज्ञा दी है। ......स्वयं धर्म-प्रवर्तक मुहम्मद साहब ने उन्हें मारने, लूटने और क़ैद करने का आदेश दिया है और सब धर्म-शास्त्रियों के कथनानुसार भी हिन्दुओं के लिए केवल एक नियम है — मृत्यु या इस्लाम।[1] यह कर बहुत सख्ती से वसूल किया जाता था। 'ज़िम्मी' (कर देने वाले) को स्वयं पैदल नंगे पैर चल कर जज़िया लेने वाले कर्मचारी के पास जाना पड़ता था। अफ़सर बैठा हुआ होता था और 'ज़िम्मी' को कर हाथ में लिए उसके आगे खड़ा रहना पड़ता था। अफ़सर कहता — अरे ज़िम्मी, जज़िया दे और अपने हाथ से रुपया लेकर वह कहता कि मैं इस व्यक्ति से जज़िया लेता हूँ।[2]

उत्तम श्रेणी के पुरुषों से यह कर चार क़िस्तों में, मध्यम स्थिति के लोगों से दो क़िस्तों में और तृतीय श्रेणी के पुरुषों से एक ही क़िस्त में लिया जाता था। यह कर उस व्यक्ति की मृत्यु या मुसलमान बनने पर ही बन्द होता था। यदि कोई उत्तम स्थिति का पुरुष अपनी परिस्थिति वश मध्यम या साधारण स्थिति का हो जाय तो उस पर उसकी पहली और दूसरी स्थिति के बीच का कर लगाया जाता था। यदि कोई साधारण स्थिति का व्यक्ति साल में छः मास बीमार रहे तो उससे उस वर्ष कर नहीं लिया जाता था। सरकारी हिन्दू कर्मचारियों से भी यह कर नहीं लिया जाता था।[3]

हम ऊपर लिख आये हैं कि यह कर ब्राह्मणों से नहीं लिया जाता था। परन्तु फीरोज़शाह तुग़लक ने ब्राह्मणों पर भी यह कर लगा दिया। एक दिन उसने बहुत से सलाहकारों को बुला कर उनसे सलाह की और कहा कि अब तक एक बड़ी भूल होती आई है। वह यह कि ब्राह्मणों पर यह कर नहीं लगाया जाता। ब्राह्मण ही तो मूर्ति-पूजा के कर्त्ता-धर्ता हैं और काफ़िर उन्हीं पर आश्रित हैं। उन पर तो यह कर सबसे पहले लगाना चाहिए था। सब सलाहकारों ने भी उसे ब्राह्मणों पर कर लगाने की सम्मति दी। यह सुन कर वहाँ के ब्राह्मण सुलतान के पास इकट्ठे हुए और उसे कहा कि अब तक हमारे पर यह कर नहीं लगाया गया। उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि हम चिता में जल मरेंगे, परन्तु कर न देंगे। सुलतान ने यह सुन कर भी उन्हें छोड़ना न माना और कहा कि तुम खुशी से जल मरो, कर माफ़ नहीं किया जायगा। ब्राह्मणों ने यह कह उपवास करना शुरु किया और जब उनकी दशा बहुत बुरी होगई, तो हिन्दुओं ने ब्राह्मणों को यह कह कर कि हम तुम्हारी जगह भी

---

१ सरकार, औरंगज़ेब; जि० ३ पृ० २८७-८८।

२ इरविन; लेटर मुग़लस, जि० १, पृ० ३३६। सरकार; औरंगज़ेब; जि० ३, पृ० ३०५-६।

२ इरविन; लेटर मुग़लस; जि० १, पृ० ३३६।

कर देंगे, तुम्हें कर नहीं देना पड़ेगा, उनसे उपवास छुड़वाया। इस सुलतान के समय जज़िया तीनों श्रेणियों से क्रमशः ४०, २० और १० टंके (रुपये) लिया जाता था। जब ब्राह्मणों ने देखा कि उनकी प्रार्थना सुनी नहीं गई, तब उन्होंने सुलतान से अपने पर कम कर लगने की प्रार्थना की, जिस पर उसने ब्राह्मणों पर १० टंका और ५० जीतल (पैसे) कर लगाया।[1]

फीरोज़शाह के बाद भी यह कर किसी तरह अक़बर के समय तक चलता रहा; परन्तु अक़बर के समय यह कर कितना था, इसका उल्लेख अबुलफ़ज़ल ने नहीं किया। उसने केवल यही लिखा है कि कर बहुत अधिक था। नीतिज्ञ अकबर इस कर की हानियों को अच्छी तरह समझता था। वह जानता था कि उसके पूर्व के मुसलमान शासकों की यह हिन्दू-विद्वेषिणी नीति मुसलमान साम्राज्य के लिए बहुत घातक हुई है। यदि एक विशाल साम्राज्य बनाना हो तो हिन्दुओं की सहायता लेना आवश्यक है। हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक दृष्टि से देखना चाहिये और किसी जाति के धर्म सम्बन्धी विचारों को हानि पहुँचाना राज्य के लिए भी हानिप्रद है। इसलिए उसने वि० सं० १६२१ (ई० स० १५६४) में जज़िया-कर दूर कर दिया।[2] उसने केवल यही कर नहीं, तीर्थों के कर आदि भी जो हिन्दुओं के लिए अपमानजनक थे, दूर कर दिये। उसकी इस नीति का क्या फल हुआ, यह किसी इतिहास के विद्यार्थी से अविदित नहीं। उसने ऐसा करके प्रायः सब हिन्दू राजाओं की सहायता प्राप्त कर ली, जिसके द्वारा वह एक विशाल साम्राज्य बना सका, जो तब तक नहीं टूटा जब तक कि अकबर की नीति क़ायम रही। अदूरदर्शी कट्टर मुसलमान बादशाह औरंगजेब ने वि० सं० १७३६ वैशाख सुदी २ (ई० स० १६७९ ता० २ अप्रेल) को अपने सारे साम्राज्य में इस्लाम के प्रचार तथा हिन्दुओं को हानि पहुँचाने के लिए यह कर लगाने की आज्ञा दी। जब यह खबर दिल्ली-निवासी हिन्दुओं ने सुनी, तो उन्होंने मिल कर बादशाह से कर हटाने की प्रार्थना की। उस दिन के बाद के शुक्रवार को जब बादशाह जामा मस्जिद में नमाज़ के लिए जाने वाला था, हज़ारों हिन्दू क़िले से जामा मस्जिद तक सड़क पर खड़े हो गये। औरंगज़ेब के हटाने की आज्ञा देने पर भी वे न हटे। बादशाह को जब वहाँ ठहरे-ठहरे एक घन्टा हो गया, तब उसने क्रुद्ध हो कर हाथियों को भीड़ पर हूल देने और उन्हें कुचल कर रास्ता साफ़ करने की आज्ञा दी। इसी तरह कुछ दिनों तक उन्होंने विरोध किया, परन्तु बादशाह के दृढ़ निश्चय व शक्ति के आगे वे टिक न सके।[3] बादशाह ने यह कर

---

१ तारीखे फ़िरोज़शाही; इलियट; जि० ३, पृ० ३६५-६६।

२ स्मिथ; अक़बर; पृ० ६५-६६।

३ सरकार; औरंगज़ेब; जि० ३, ३०८-९।

वसूल करने के लिए बहुत से अफ़सरों को नियुक्त किया, जिन्होंने बहुत सख्ती से यह कर वसूल करना शुरू किया। उनके ऊपर भी, उनका निरीक्षण करने के लिए, एक अफ़सर नियत किया गया, जो सब प्रांतों में घूम-घूम कर उनका निरीक्षण किया करता था। इस कर की मात्रा भी बहुत बढ़ गई। केवल गुजरात में इस कर से ५ लाख रुपये की आय थी, जो कुल आय का ३॥ प्रति सैंकड़ा थी। इस कर की वसूली की ओर बादशाह का यहां तक झुकाव था कि एक समय दक्षिण में उसकी सेना बिना अन्न के भूखों मरने लगी, क्योंकि अनाज बेचने वाले हिन्दू व्यापारी शाही सीमा के बाहर रहते थे और जज़िया के डर से बादशाही सैन्य में अनाज बेचने को नहीं आते थे। अन्न न मिलने से सेना की दुर्दशा होती देख कर एक अफ़सर ने बादशाह से कहा कि यदि अनाज के हिन्दू व्यापारियों पर से जज़िया माफ़ कर दिया जाय, तो अन्न मिल सकता है। परन्तु बादशाह ने उत्तर दिया कि भले ही हमारी सेना भूख से मर जाय, परन्तु मैं क़ाफ़िरों पर से जज़िया हटा कर अपनी आत्मा को कलंकित नहीं करूँगा। इसी तरह यदि कोई कर्मचारी अपने प्रतिस्पर्धी व्यक्ति को हटाना चाहता तो बादशाह को यही कहना काफ़ी था कि उसने कुछ हिन्दुओं से यह कर नहीं लिया।[१]

औरंगज़ेब की हिन्दुओं को दबाने वाली इस भयंकर नीति से सम्पूर्ण भारत में प्रायः सब हिन्दू उससे अप्रसन्न हो गये और मरहठों, सिखों, जाटों और राजपूतों ने उपद्रव शुरू कर दिये। उदयपुर के महाराणा राजसिंह ने उसे उसके पूर्वजों की नीति के लाभ बताते हुए जज़िये के विरोध में एक पत्र लिखा; इस पर बादशाह ने उस पर बहुत सैन्य लेकर चढ़ाई की। राजसिंह ने भी उसका वीरतापूर्वक मुक़ाबिला किया। दोनों पक्षों को बहुत नुक़सान हुआ, परन्तु औरंगज़ेब अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। इसी तरह अन्य उपद्रवों को भी शांत करने के लिए बादशाह को अपना जन-बल तथा धन-बल दोनों बहुत व्यय करने पड़े, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। उसके जीवन-काल में ही उसके साम्राज्य-भवन के नष्ट होने के चिन्ह नज़र आने लगे और उसके मरते ही तो वह खण्ड-खण्ड हो कर गिर पड़ा।

औरंगज़ेब के बाद भी यह कर किसी न किसी रूप में चलता रहा। दिल्ली के बादशाहों का जहाँ-जहाँ प्रभाव रहा, वहीं-वहीं से यह कर लिया जाता रहा। जहाँ की जनता स्वतन्त्र होती गई, या सरदारों ने अपना अधिकार कर लिया, वहाँ से यह कर भी हटाया गया। अंत में फ़र्रुख़सियर ने वि० सं० १७७० में सैयद बन्धुओं के, जो हिन्दुओं को अपना समर्थक बनाना चाहते थे, अनुरोध से यह कर हटा दिया। यह सुन कर इनायतुल्ला के हाथ, जो मक्के से हज करके लौटा था, वहाँ के

---

१ वही; जि० ३, पृ० ३०९-११।

शरीफ़ (हाकिम) ने बादशाह के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उसने हदीस (धर्मग्रंथ) के अनुसार हिन्दुओं पर जज़िया लगाने पर ज़ोर दिया। इससे प्रभावित होकर बादशाह ने सैयद बन्धुओं के विरोध करने पर भी वि० सं० १७७४ में फिर यह कर लगा दिया, लेकिन इस कर की बहुत थोड़े लोगों ने पर्वाह की। उसकी इस आज्ञा से भारत में फिर उपद्रव की बुनियाद क़ायम हुई और अन्त में फ़र्रुख़सियर के क़ैद होकर मारे जाने पर जब वि० सं० १७७६ में रफ़ीउद्दरजात को बादशाह बनाया गया, तब जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह, कोटा के राजा भीमसिंह और सय्यद अब्दुल्लाखाँ आदि की सलाह से उसने जज़िया को हटा दिया[1]। इस तरह मुग़लों के राज्य की अवनति के साथ इस कर की भी समाप्ति होगई[2]।

['त्यागभूमि', अजमेर पौष १९८४,]

---

१ इरविन; लेटर मुग़ल्स; जि० १, पृ० २४६, ३३४ और ४०४।

सम्पादकीय टिप्पण

1. इस पत्र को बादशाह औरंगजेब के दरबार में महाराणा राजसिंह की तरफ़ से भेजने के विषय में मतभेद है, जो ऊपर पृ० ८० स० टि० 5 में बतलाया गया है।

2. रफीउद्दरजात केवल तीन मास बाद मर गया और उसके बाद उसका भाई रफीउद्दोला भी तीन मास के बाद ही चल बसा। पश्चात् मुहम्मदशाह, बादशाह बनाया गया। जिसने आंबेर के महाराजा सवाई जयसिंह के परामर्श से जज़िया लेना बन्द कर दिया था, ऐसा जयपुर रेकार्ड से पाया जाता है।

प्रकरण तीसरा, विविध

१ दीवाली

हिन्दुओं के अनेक पर्वों या त्यौहारों में दीवाली सब से बड़े महत्त्व का त्यौहार है। इसका विशेष महत्त्व कई कारणों से है। दीवाली शब्द दीपावलि का अपभ्रंश या लौकिक रूप है, जिसका अर्थ दीपकों की पंक्ति अर्थात् दीपकों के द्वारा रोशनी करना है। दीवाली के दिन रोशनी करने की प्रथा कैसे प्रचलित हुई, यह अनिश्चित् है और इसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कोई कहते हैं कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र ने रावण को नष्ट कर इसी दिन अयोध्या में प्रवेश किया, जिसके आनंदोत्सव में नगर में रोशनी की गई, तब से दीवाली के दिन घर-घर में रोशनी करने की रीति चली आती है।

यह कथन भी निर्मूल नहीं है; क्योंकि प्राचीनकाल से ही किसी महान् घटना के उपलक्ष में अथवा किसी महापुरुष के सम्मानार्थ रोशनी करने की प्रथा चली आती है। जैनों के कल्पसूत्रों से पाया जाता है कि भगवान महावीर स्वामी लिच्छिवी वंशी क्षत्रियों के मामा थे और उनके निर्वाण के उपलक्ष में लिच्छिवियों ने अपने नगर में रोशनी की थी। भगवान महावीर का निर्वाण दीवाली के दिन ही हुआ था, जिससे अब तक जैन समुदाय में उस दिन भगवान महावीर की भक्ति भावना एवं उनका गुणगान किया जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का निर्वाण भी दीवाली के दिन ही हुआ, जिससे आर्यसमाजियों में भी यह बड़े पर्व का दिन माना जाता है। अग्नि होत्रियों के लिए यह इष्टिका और धार्मिक हिन्दूओं के लिए विशेष रूप से श्राद्ध करने का दिन है। इस प्रकार दीवाली का दिन कई प्रकार से बड़े महत्त्व का पर्व माना जाता है।

दीवाली के दिन रोशनी करने के साथ हिन्दुओं का धार्मिक सम्बन्ध भी अवश्य है। यह पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि बलि ने कार्तिक मास में भगवान विष्णु के आगे विधिपूर्वक दीपदान

किया, जिससे वे सब पापों से मुक्त होकर स्वर्ग को चले गये। इसी से हिन्दुओं में कार्तिक मास में दीपदान करने की रीति प्रचलित है। भूमि पर दीपदान करने का निषेध और वृक्ष पर दीपक जलने का विधान होने से विष्णु मंदिरों में जहाँ वृक्ष नहीं होते, वहाँ काष्ट के मोटे स्तम्भ में चारों ओर लोहे की सलाकाएं लगा कर शँकु आकृति का वृक्ष सा बनाया जाता है। ऐसे वृक्षों में लोहे की सलाकाओं के बाहरी अंश वृत्ताकार होते हैं, जहाँ दीपक रक्खे जाते हैं। जिस समय सैंकड़ों दीपक जलाए जाते हैं, उस समय इन दीप वृक्षों की शोभा भी वास्तव में अपूर्व होती है और दर्शकों को वे अग्निमय वृक्ष ही प्रतीत होते हैं; मैंने उदयपुर के विष्णु मंदिरों में ऐसे दीप वृक्ष देखे हैं। दक्षिण के मंदिरों के आगे के तालावों के मध्य में बने हुए चबूतरे पर पाषाण या ईंटों से विशाल स्तम्भ बनाये जाते हैं। उनमें दीपक रखने के सैंकड़ों स्थान रक्खे जाते हैं, जिन पर जब दीपक जलाए जाते हैं, उस समय उन स्तम्भों की शोभा भी दर्शनीय होती है। ये वृक्ष और स्तम्भ भूमि पर दीपदान करने का निषेध होने से ही बनाए जाते हैं। गंगा, यमुना आदि नदियों, पुष्करादि पवित्र जलाशयों में भी लोग सरकंडे की टाटियों पर अनेक दीपक जला कर जल पर तैरते हुए रखते हैं, जिसका कारण भी भूमि पर दीपदान करने का निषेध ही है। कार्तिक मास में गृहस्थों के भवनों के सबसे ऊंचे भाग पर लम्बा बाँस खड़ा किया जाकर उसके अग्रभाग पर लालटेन आदि में दीपक जलाया जाता है, जिसको आकाश दिया कहते हैं। उसके सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्धि है कि पितृपक्ष में पृथ्वी पर आए हुए पितृगण पीछे पितृलोक को जाते हैं, उनको मार्ग बतलाने के लिए ये दीपक आकाश में जलाये जाते हैं। ये दीपक चाहे पितृ लोगों के निमित्त हों, या कार्तिक के दीपदान के सूचक हों; परन्तु यह रीति अब तक के भारत के कई विभागों में प्रचलित है और संभवतः यह भी विष्णु के दीपदान का एक प्रकार हो।

ऊपर बतलाए हुए दीवाली के कारणों से भी अधिक महत्त्व का कारण उस दिन सायंकाल के समय लक्ष्मीपूजन है। वह समय लक्ष्मी के घर में प्रवेश करने का सूचक माना जाता है, इसलिए राजा महाराजाओं, धनाढ्यों, साधारण गृहस्थों एवं समस्त हिन्दू-व्यौपारियों के यहाँ लक्ष्मी का पूजन किया जाता है। चातुर्मास की वृष्टि से मकान मैले हो जाते हैं, जिससे लक्ष्मी पूजन से पहले उनको लिपवा पुतवा कर स्वच्छ करा लेते हैं और लक्ष्मी पूजन के उपलक्ष में उनको सजाते हैं और अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार उनमें रोशनी करते हैं। उस दिन बम्बई की रोशनी भारत भर में प्रसिद्ध है और दूर-दूर से हजारों लोग उसकी शोभा देखने के लिए बम्बई जाते हैं। दीवाली के दिन का सायंकाल का समय लक्ष्मी के गृह-प्रवेश का होने के कारण राजपूताना की कई जातियों में यह भी प्रथा है कि नव विवाहिता वधू का द्विरागमन दीवाली के दिन कराया जाता है और ठीक दीपक के जलने के समय वधू का प्रवेश पति के घर में होता है। अमावास्या का दिन शुभकार्य के लिए वर्जित होने पर भी लक्ष्मी के गृह-प्रवेश का काल बड़ा ही शुभ माना गया है, जिससे ऐसा किया जाता है।

पर दूसरा बख्तर देख कर पिता ने पूछा– 'अपना बख्तर कहाँ है ?

इस पर जयमल ने सारा वृत्तांत कह सुनाया।

कछवाहों और राठोड़ों में पारस्परिक वैर चला आता था, जिससे रूपसी अपने पूर्वजों का बख्तर राठोड़ों के पास चले जाने पर बहुत क्रुद्ध हुआ और बादशाह के पास आदमी भेजकर निवेदन किया कि मेरा बख्तर मुझे वापस मिल जाय; क्योंकि मेरे पूर्वजों के समय से वह हमारे घराने में चला आता है और यह बड़ा शुभ है, उससे हमने कई युद्ध जीते हैं।

यह सुनकर बादशाह ने उत्तर दिया कि हमने भी ऐसा शुभ कवच जो विजय का चिन्ह है, तुम्हें दिया है; वह भी कम महत्त्व का नहीं है।

परन्तु इससे रूपसी को सन्तोष न हुआ और अपने जिरह बख्तर उतार कर उसने कहा कि मैं युद्ध में बिना बख्तर ही लडूंगा। अपने राजपूत सरदार की बख्तर पर इतनी ममता देखकर बादशाह ने कहा कि जब हमारे सरदार नंगे बदन लड़ेंगे, तो हमें भी जिरह बख्तर पहनकर लड़ना अच्छा नहीं लगता। यह कहकर उसने भी अपना बख्तर उतार डाला और कहा कि हम भी शत्रु की तलवारों को नगे बदन पर झेलेंगे।

इस प्रकार बादशाह को बिना बख्तर लड़ने को उद्यत देखकर राजा भगवानदास कछवाहा इस बखेड़े को शान्त करने के विचार से जयमल और रूपसी के पास गया और उन दोनों से कहा - तुम क्या अनर्थ कर रहे हो ? तुम्हें बिना बख्तर लड़ने को तैयार देखकर बादशाह ने स्वयं अपना बख्तर उतार डाला है और यदि शत्रु की तलवार से बादशाह के शरीर पर कोई घाव लग गया तो तुम्हारी कितनी बदनामी होगी।

भगवानदास के इस प्रकार समझाने--बुझाने पर उसने अपना बख्तर पहन लिया। फिर बादशाह के पास जाकर भगवानदास ने अर्ज़ किया कि कोई खास बात नहीं है। रूपसी ने आज भंग अधिक पी ली थी, उसी के नशे की तरंग में उसने यह जिद की, जिसके लिए वह क्षमा चाहता है।

इस घटना से 'बालक' के पाठक जान लेंगे कि एक वीर राजपूत को अपना बख्तर कितना प्रिय होता था, कि उसके लिए अकबर जैसे प्रबल सम्राट से भी उसने वापस मांगने का साहस किया।

हम किसी और समय बालक--समुदाय को राजपूत के घोड़े के सम्बन्ध की एक ऐसी ही रोचक कथा सुनावेंगे।

बालक (लहेरिया सराय); वर्ष २, अंक १, स. १९८३ माघ, पृ. ६-१०

———

३ महर्षि दयानन्द सरस्वती और महाराणा सज्जनसिंह

महर्षि दयानन्द सरस्वती का नाम सारे संसार में प्रसिद्ध है। वे वैदिक धर्म के संस्थापक और वर्तमान हिन्दू-धर्म की प्रचलित मूर्ति-पूजा आदि कई बातों के खंडन-कर्ता माने जाते हैं। महर्षि ने प्रचलित हिन्दू-धर्म की कई बातों की उपेक्षा कर उनके विरुद्ध खंडन का बीड़ा क्यों उठाया ? इसका कोई गूढ़ कारण होना चाहिए, क्योंकि उनको धन एकत्र कर सुख-भोग की इच्छा नहीं और न किसी धर्म के आचार्य होकर मठाधीश बनने की लालसा थी।

वे यह मानते थे कि प्राचीन वैदिक धर्म शुद्ध, आडम्बर-शून्य और जीवमात्र के हित के लिये था, परन्तु पीछे से उसमें बहुत-कुछ परिवर्तन होकर विद्या का अभाव, मत-मतान्तर, रीति-रिवाज और भेद-भावरूपी अनेक कीड़े लग गये, जो समग्र हिन्दू-जाति को नाश की ओर ले जा रहे हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था लुप्त हो जाने से सैंकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनकर भेद-भाव और ऊँच-नीच की भावना बढ़ते-बढ़ते पारस्परिक वैमनस्य का कारण हो गई। तीर्थस्थल, मंदिर और मठ, जो शान्ति प्राप्त करने के लिये बनाए गए थे, विलासिता के केन्द्र बन गए। पंडे, पुजारी और मठाधीश पीड़ित हिन्दू-जनता का रक्त-शोषण कर उसे निर्धन बनाने के साथ ही द्रव्य का दुरुपयोग करते रहे। विद्या का अभाव होने से मनुष्य-जीवन के महत्त्व को भूलकर वे शास्त्रों के गूढ़ रहस्य को जानने से वंचित रह गये। कला-कौशल का नाश होने से पराश्रय में रहकर जीवन व्यतीत करना पड़ता और बेकारों की संख्या बढ़ती जा रही है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और बहु-विवाह की प्रथा से देश को महान् क्षति पहुँचती है और आश्रम-धर्म उठता जा रहा है। विचारों की संकीर्णता के कारण प्रतिवर्ष हजारों हिन्दू दुःखी हो अन्य धर्मों का आश्रय लेते हैं और सामाजिक कुप्रथाओं के कारण विधवाओं की संख्या बढ़कर कई मारी-मारी फिरती हैं, जिससे अनाचार की वृद्धि होती और हिन्दू-जाति का ह्रास होता है। अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पन्द्रह वर्ष से चालीस वर्ष की आयु तक निरन्तर तपस्या और विद्याध्ययन के प्रभाव से महर्षि ने एकमात्र वैदिक धर्म के अभाव को इन सब बुराइयों की जड़ जानकर यह संकल्प किया कि नष्टप्राय वैदिक धर्म को पुनः भारत में फैलाकर सोई हुई हिन्दू-जाति को जगाई जाय, तभी हिन्दू-जाति

का अस्तित्व रहेगा। अपने इस संकल्प को सिद्ध करने के लिये महर्षि ने कौन-कौनसे कार्य किये, उनका इस लेखमें संक्षेप से वर्णन किया जाता है, परन्तु इसके पहले थोड़े-से शब्दों में यह बतलाना आवश्यक है कि बौद्ध और जैन धर्म का विकास होने के पूर्व भारत में वैदिक धर्म की क्या स्थिति थी; बौद्ध और जैन धर्म की उन्नति के दिनों में उसकी कैसी दशा रही और फिर उसका रूपान्तर होते--होते वह किस दशा को पहुँचा।

वैदिक धर्म आर्य-जाति का सब से प्राचीन धर्म है। ईश्वर की उपासना, यज्ञ, वर्ण-व्यवस्था आदि इसके मुख्य अङ्ग थे। समस्त जनता-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णों में विभक्त थी और इनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था और प्रत्येक वर्ण का पुरुष अपने तथा अपने से नीचे के वर्णवालों में विवाह भी कर सकता था। शूद्रों का सेवा-कार्य होने पर भी उनको पंच महायज्ञ करने का अधिकार था, जैसा कि पतञ्जलि के महाभाष्य तथा कैयट की टीका से ज्ञात होता है। ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों के अनुसार उसकी उपासना पृथक्-पृथक् रूप में होती थी। अनार्य या विधर्मियों के लिये भी इस धर्म का द्वार खुला हुआ था। यज्ञों में पशु-हिंसा होती थी और मांस-भक्षण का प्रचार बढ़ा था। अहिंसा के समर्थक इसका विरोध भी किया करते थे। इस हिंसा-वृत्ति को रोकने के लिये ईस्वी सन् पूर्व की छठी शताब्दी में क्षत्रिय-वंशी बुद्ध और महावीर ने क्रमशः बौद्ध और जैन धर्म का प्रचार आरंभ किया। इन दोनों धर्मों में अहिंसा की प्रधानता थी। ये दोनों धर्म, अनीश्वरवादी होने पर भी दिन-दिन उन्नति करने लगे और राज्याश्रय मिलने पर उनके अनुयायी बहुत होगये, जिससे वैदिक (ब्राह्मण) धर्म का प्रभाव घटने लगा।

ईस्वी सन् पूर्व की तीसरी शताब्दी में मौर्यवंशी सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर अपने राज्य-भर में उसकी बहुत उन्नति की। इतना ही नहीं, किन्तु भारत के बाहर सुदूर देशों में भी उसके प्रचार के लिये उसने उपदेशक भेजे। बौद्ध-धर्म के उपदेशकों ने शनैः-शनैः निःस्वार्थभाव से इस धर्म का प्रचार भारत के बाहर ब्रह्मदेश, स्याम, चीन, जापान आदि देशों में किया। साइबीरिया और मध्य एशिया भी इस धर्म के अनुयायी हो गये। ईस्वी सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी में मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर उसका सेनापति शुंगवंशी पुष्यमित्र उसके राज्य का स्वामी बन गया और उसने वैदिक धर्म का पक्ष लेकर फिर अश्वमेध यज्ञ जारी किया; परन्तु सौ वर्ष से कुछ अधिक रहकर वह वंश भी समाप्त हो गया। फिर भी बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ता गया, जिसके फल-स्वरूप कई वैदिक-धर्मावलंबी ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों ने भी बौद्ध धर्म को ग्रहण किया। वैश्यों ने अपने परंपरागत कृषि-कर्म को छोड़ दिया, तब शूद्रों ने उसे अङ्गीकार कर लिया।

ईस्वी सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी में जैन-धर्मावलंबी, प्रतापी एवं विजयी राजा खारवेल ने जैन धर्म के प्रचार के लिये बहुत-कुछ उद्योग किया। कुशनवंशी राजा कनिष्क ने ईस्वी सन् की

पहली शताब्दी में बौद्ध धर्म की और भी उन्नति की। इस प्रगति का वेग गुप्तों के राज्य के प्रारम्भ-काल तक बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। ब्राह्मणों की सत्ता दिन-दिन निर्बल होती गई और बौद्धों तथा ब्राह्मणों में पारस्परिक द्वेष बहुत बढ़ गया। ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म ग्रहण करने वाले समस्त क्षत्रियों, वैश्यों आदि को 'वृषल' अर्थात् धर्मच्युत माना और बौद्ध-प्राय देशों में तीर्थयात्रा के बिना जानेवालों के लिए फिर से संस्कार कराने की विधि प्रचलित की।

कुछ समय पश्चात् ब्राह्मणों को अपनी भूल की सूझ पड़ी। उन्होंने बौद्ध और जैन-धर्माव-लंबियों को फिर अपने (वैदिक) धर्म में लाने की चेष्टा की, इतना ही नहीं, किन्तु उनको अपने वैदिक धर्म में परिवर्तन भी करना पड़ा और एक नवीन साँचे में ढलकर वह पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती-जुलती धर्म-सम्बन्धी बहुतसी नई बातें जोड़ी गईं और बुद्ध तथा महावीर की गणना विष्णु के अवतारों में हुई। माँस भक्षण का भी निषेध किया गया और मूर्ति-पूजा की प्रवृत्ति बढ़ी। उसमें अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की गई। यह परिवर्तित धर्म इस समय 'सनातन धर्म' नाम से प्रसिद्ध है।

यह बात इतने ही से न रुकी, किन्तु सुदूरवर्ती दक्षिण (मद्रास प्रान्त) के ब्राह्मणों ने तो पुराणों के इस कथन—'शिशुनाग वंश के अन्तिम राजा महानंदी के पीछे शूद्रप्राय राजा होंगे'—पर विश्वास कर केवल दो ही वर्ण मान लिये, जो ब्राह्मण और अब्राह्मण (शूद्र) नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी देखा-देखी महाराष्ट्र के ब्राह्मणों ने भी ऐसा ही किया। ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दी के कुछ पीछे तक के शिलालेखों, दानपत्रों और प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकों से ज्ञात होता है कि महाराष्ट्र के ही नहीं, किन्तु सुदूरवर्ती दक्षिण (मद्रास प्रान्त) के राजा अपने को बराबर क्षत्रिय मानते रहे, तो भी ब्राह्मणों की प्रबलता तथा प्रधानता के कारण उनका आदेश चल निकला और क्षत्रियों को भी शूद्र मानकर उन्होंने उनकी धार्मिक क्रियाएँ वैदिक रीति से नहीं, किन्तु पौराणिक पद्धति से कराना शुरू कर दिया। उनके यजमानों के अज्ञान के कारण यह पद्धति कुछ समय तक चलती रही। फिर कमलाकर पंडित ने 'शूद्र-कमलाकर' (शूद्र-धर्म-तत्त्व) नामक ग्रन्थ लिखकर उनकी धर्म-क्रियाओं को पौराणिक विधि से स्थिर कर दी। जब प्रसिद्ध राजा छत्रपति शिवाजी ने महाराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित किया और अपना राज्याभिषेकोत्सव बड़ी धूमधाम से कराना चाहा, तब उनके पुरोहितों ने वेद-विधि से उनका राज्याभिषेक करना स्वीकार न किया। इस पर शिवाजी ने काशी से विश्वेश्वर भट्ट (उपनाम गागा भट्ट) नामक विद्वान् को, जो उस समय का वेदव्यास माना जाता था, बुलाकर अपना राज्याभिषेक वैदिक विधि से करवाया और अपने पूर्वज मेवाड़ के सूर्यवंशी सीसोदिया क्षत्रिय होने से उन्होंने अपनी राज्य मुद्रा में 'क्षत्रिय-कुलावतंस श्री राजा शिव छत्रपति' लेख खुदवाया। शिवाजी

के पीछे यह भावना लुप्त हो गई। सद्भाग्य से उत्तर-भारत के ब्राह्मणों ने इस प्रथा का अनुमोदन न किया; किन्तु बौद्धों के अवनति-काल में जो लोग फिर वैदिक धर्म में आना चाहते, उन्हें प्रारम्भ में 'व्रात्यस्तोम' क्रिया से और पीछे से बिना किसी क्रिया के फिर उनके मूल वर्ण में मिलाने लगे।

ब्राह्मणों के इस परिवर्तित धर्म की गुप्त राजाओं के समय से उन्नति होने लगी और क्रमशः बौद्ध धर्म की अवनति होते-होते दसवीं शताब्दी के आसपास भारत के अधिकांश भाग से बौद्ध धर्म का अस्तित्व उठता गया। गुजरात के प्रतापी राजा कुमारपाल के पश्चात् उधर जैन धर्म का विकास भी रुक गया। इसके अनन्तर मुसलमानों का राज्य भारत में होने के समय से वे भी भारतवासियों को अपने धर्म में मिलाने लगे, जिससे मुसलमानों की संख्या में वृद्धि होती गई। ब्राह्मणों के धर्म में मत-मतान्तरों की संख्या बढ़ गई। क्षत्रिय (राजपूत) वर्ण को छोड़कर अन्य वर्णों में इतनी उपजातियाँ बन गईं कि एक दूसरे के साथ का खान-पान और विवाह-सम्बन्ध छूट गया। इस प्रकार जो हिन्दू-जाति पहले सभ्यता के आदर्श पर रहकर केवल चार वर्णों में ही विभक्त थी, वह हजारों जातियों और उपजातियों में विभक्त होकर इस समय मृतप्राय दशा को पहुँचे गई। वैदिक काल की 'व्रात्यस्तोम' क्रिया का लोप होने से हिन्दुओं की जन-संख्या बराबर घटती गई। अंग्रेजी राज्य का अभ्युदय होने पर ईसाई-धर्म का भी यहाँ प्रचार होने लगा और जातिगत संकीर्णता बढ़ जाने से कई लोग उदासीन हो ईसाई-धर्म भी ग्रहण करने लगे। फिर पारस्परिक भेदभाव भी बढ़ता गया और ऊँच-नीच का प्रश्न उत्पन्न हो गया। इससे पारस्परिक प्रेम में न्यूनता होकर एक-दूसरे में बड़ा अन्तर पड़ गया। अपने इस संकुचित व्यवहार के कारण एक समय जो हिन्दू-जाति उच्च विचारों से भूषित होकर विशाल-हृदय कहलाती थी, वह पतनोन्मुख होकर मृतप्राय बन गई; परन्तु फिर भी हमारे धर्माचार्यों का इस ओर जरा भी ध्यान आकृष्ट न हुआ, वे उल्टे पारस्परिक द्वेष को बढ़ाते ही गये।

जब अधोगति चरम सीमा तक पहुँच जाती है, तब उस जाति में कोई महान् पुरुष उत्पन्न होता है; यह प्राचीन सिद्धान्त है। तदनुसार जब हिन्दू-जाति पतन के समीप पहुँचने लगी, तब उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वि० सं० १८८१ (ई० स० १८२४) में काठियावाड़ के मोरवी राज्य के टंकारा गाँव में एक औदीच्य ब्राह्मण के घर में बालक मूलशंकर का जन्म हुआ। बाल्यकाल से ही इस बालक में प्रतिभा दृष्टिगोचर होने लगी और चौदह वर्ष की आयु में उसने सारी शुक्ल यजुर्वेद-संहिता कंठस्थ कर ली। एक बार शिवरात्रि के दिन शिवलिंग का पूजन करते समय लिंग पर एक चूहा चढ़ गया और उसके ऊपर चढ़ाई हुई सामग्री को खाने लगा। यह देख बालक मूलशंकर के हृदय में एकदम महान् परिवर्तन हो गया और जड़वाद का नाश होकर उसमें सत्यान्वेषण की धुन पैदा हुई। उसकी अन्तरात्मा जाग उठी और उसमें जगत् के कल्याणकारी परमपिता परमेश्वर की प्राप्ति के लिए

उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई, हृदयस्थल में अन्तर्नाद होने लगा और उसे निश्चय होगया कि मूर्ति-पूजा ईश्वर-प्राप्ति का साधन नहीं है। बालक मूलशंकर के हृदय की इस उथल-पुथल में ही दो वर्ष के पश्चात् उसकी छोटी बहिन की मृत्यु हो गई और फिर चाचा का भी देहान्त हो गया, जिससे जिस भांति गौतम बुद्ध को संसार से निराशा हो गई थी, उसी प्रकार उसका चित्त भी संसार से हट गया। आशावाद का अन्त हुआ और अमर फल पाने की लालसा जाग उठी। माता-पिता ने उसको विवाह द्वारा सांसारिक बन्धनों में जकड़ना चाहा; परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ मूलशंकर ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। वह बीस वर्ष की आयु में घर से निकल गया। उसने पूर्णानन्द सरस्वती नामक विद्वान् से सन्यास ग्रहण कर अपना नाम दयानन्द सरस्वती रक्खा। तदनन्तर स्वामीजी ने योग की क्रिया को सीखना आरम्भ किया और व्याकरण में अपनी गति बढ़ाई। इस प्रकार वि० सं० १६११ तक वे इधर-उधर फिरते हुए विद्वान्, महात्माओं और योगियों के सत्संग से लाभ उठाकर अपनी आत्मिक उन्नति करते रहे। फिर वे हिमालय की ओर गये, पर वहाँ भी उनके मानसिक परितोष का साधन न मिला। तत्पश्चात् वे नर्मदा-तट पर तीन वर्ष तक विचरते रहे और वहाँ से मथुरा जाकर प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी विरजानंदजी से वेद और आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्तसूत्र आदि कई ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् अपने शिक्षा-गुरु की आज्ञा के अनुसार हिन्दू-जाति को मतमतान्तर के बन्धनों से छुड़ाकर सच्चे धर्म पर लाने के लिये उन्होंने अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

सर्व-प्रथम महर्षि ने वि० सं० १६२० (ई० सं० १८७३) में आगरे में उपदेश देना आरंभ किया और वहाँ से करौली, धौलपुर, ग्वालियर, जयपुर, कृष्णगढ़, अजमेर, पुष्कर, मथुरा, मेरठ, अनूपशहर, सोरों, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस, डुमराँव, पटना, मुंगेर, भागलपुर, वृन्दावन, प्रयाग, जबलपुर, बम्बई, अहमदाबाद, राजकोट, पूना, लुधियाना, लाहौर, जालंधर, फ़ीरोज़पुर, रावलपिन्डी, झेलम, गुजराँवाला, मुलतान, रुड़की, दिल्ली, देहरादून, मुरादाबाद, बदायूं, बरेली, लखनऊ आदि नगरों में जाकर उन्होंने प्राचीन वैदिक धर्म का प्रचार किया। उनको अनेक स्थानों में पंडितों से शास्त्रार्थ करना पड़ा, जिसमें महर्षि सदा विजयी होते रहे। उपर्युक्त स्थानों में से कुछ में महर्षि का कई बार आना हुआ और प्रत्येक बार उन्हें सफलता मिली। उनके उपदेशों से अपूर्व जागृति उत्पन्न हुई और उनके व्याख्यान सुनने से लोगों की प्राचीन वैदिक धर्म की तरफ़ फिर श्रद्धा बढ़ने लगी। हिन्दू-धर्म को सार-हीन समझकर जो लोग अन्य धर्म ग्रहण करते थे, उन्हें ज्ञान पड़ा कि वैदिक धर्म में जो उत्तमता है वह अन्य धर्मों में नहीं। इसके अतिरिक्त बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह तथा बहु-विवाह बन्द करने और गुरुकुल, अनाथालय, विधवाश्रम, विद्यालय आदि संस्थाएँ खोलकर जनता का हित करने के विचारों का अंकुर लोगों के चित्त में उत्पन्न हुआ। नियमित रूप से उपदेश होते रहने के लिये प्रत्येक जगह आर्यसमाज स्थापित होकर पंजाब आदि देशों में बड़ी जागृति हुई।

हज़ारों मनुष्यों ने वैदिक धर्म ग्रहण किया, छूतछात का भूत मिटने लगा और वैदिक धर्म से च्युत होकर अन्य धर्मों में गए हुए व्यक्तियों की पुनः शुद्धि करा उन्हें वैदिक धर्म में मिलाने की ओर भी प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

अब तक महर्षि का राजपूताने के अधिकांश प्रदेश में शुभागमन नहीं हुआ था। वहाँ प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता थी, इसलिये वे जून सन् १८८१ ई० को मसूदे गये और वहाँ से रायपुर होते हुए ब्यावर पहुँचे। महर्षि वहाँ से बनेड़ा और चित्तौड़ होते हुए बम्बई जानेवाले थे। उस समय भारत के वाइसरॉय लॉर्ड रिपन चित्तौड़ जाकर मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह को जी० सी० एस्० आई० का खिताब देनेवाले थे। उसके उपलक्ष्य में उक्त महाराणा ने वहाँ एक विशाल दरबार करने का आयोजन किया जिसमें लगभग ६० हज़ार पुरुष एकत्र हुए। महर्षि ने तत्कालीन मेवाड़-पति महाराणा सज्जनसिंह का विद्याप्रेम, गुणग्राहकता, धर्माभिरुचि, कुलाभिमान, न्यायप्रियता, शासन-सुधार एवं सामाजिक सुधार आदि की प्रशंसा सुन रक्खी थी; जिससे उस समय वहाँ ठहरकर उपदेश द्वारा उनको अपना अनुयायी बनाने और वहाँ की जनता में प्राचीन वैदिक धर्म का प्रचार करने की इच्छा हुई; क्योंकि भारतवर्ष के हिन्दू-राजाओं में मेवाड़ के महाराणाओं का सर्वोपरि स्थान है प्रत्येक हिन्दू मेवाड़ के महाराणा को बड़ी श्रद्धा से देखता और उन्हें अपना नेता मानता है, क्योंकि मुसलमानों के राजत्वकाल में, जब हिन्दू-धर्म की अवहेलना हो रही थी, मेवाड़ के महाराणा ही उसकी रक्षा कर रहे थे। अनेक बार रक्त-रंजित होने से मेवाड़ की वीर-भूमि तीर्थ-स्थल समझी जाती है, अतएव महर्षि ने भी इस अवसर पर वहाँ जाने का निश्चय किया।

महाराणा सज्जनसिंह का महर्षि से सम्बन्ध

ता० ६ अक्टोबर ई० स० १८८१ (वि० सं० १९३८) को महर्षि बनेड़े पहुंचे। वहाँ के स्वामी राजा गोविंदसिंह ने, जो संस्कृत का विद्वान् था, महर्षि का अच्छा सत्कार किया। उसके दोनों राजकुमारों—अक्षयसिंह और रामसिंह—ने महर्षि को साम-गान सुनाया, जिससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वहाँ के पुस्तकालय से महर्षि ने वेद का निघंटु ग्रन्थ लेकर अपने पास की प्रति से उसका मिलान किया। वहाँ से विदा होकर वे ता० २६ अक्टोबर सन् १८८१ ई० को चित्तौड़ पहुँचे। महाराणा की आज्ञा के अनुसार कविराजा श्यामलदास ने महर्षि के स्वागत का समुचित प्रबन्ध करवा दिया। नियमानुसार महर्षि ने वेदोक्त आर्य-धर्म का वहाँ प्रचार करना आरम्भ किया। उनके उपदेशों को सुन मेवाड़ वासी जग गये। विरोधियों ने विष उगलना आरम्भ किया, परन्तु उनकी एक न चली। महर्षि के उपदेशों को सुनने के लिये मेवाड़ के प्रतिष्ठित सरदारों में से देलवाड़े के राज फ़तहसिंह, कानोड़ के रावत उम्मेदसिंह, शाहपुरे के राजाधिराज नाहरसिंह, आसींद के रावत अर्जुनसिंह, शिवगढ़ के महाराज

गयसिंह आदि प्रायः उनके पास जाया करते थे। महाराणा भी यथावकाश महर्षि के पास उपदेश सुनने जाते थे। इससे महर्षि के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ती गई और उन्होंने उदयपुर आने के लिये महर्षि से विनयपूर्वक आग्रह किया। इसपर महर्षि ने सूचित किया कि बम्बई से लौटता हुआ मैं उदयपुर अवश्य आऊँगा।

अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार बम्बई से लौटते समय महर्षि का वि० सं० १९३९ के द्वितीय श्रावण (ता० ११ अगस्त ई० स० १८८२) को उदयपुर में आगमन हुआ। वहाँ सज्जन--निवास बाग के नौलखा नामक महल में उनका ठहरना हुआ। महाराणा, द्वितीय श्रा० कृ० १४ को महर्षि से भेंट करने गये और तत्पश्चात् नियमपूर्वक महर्षि के पास जाया करते थे। महाराणा के सभी सरदार महर्षि के उपदेशों को बड़ी श्रद्धा से सुनते। उन (सरदारों) में आसींद के रावत अर्जुनसिंह, पारसोली के राव रतनसिंह, शाहपुरे के राजाधिराज नाहरसिंह, शिवगढ़ के महाराज रायसिंह, मामा बख्तावरसिंह, कविराजा श्यामलदास, राय मेहता पन्नालाल, मेहता तख्तसिंह, पुरोहित पद्मनाथ और दीक्षित जगन्नाथ आदि मुख्य थे।

महर्षि के सारगर्भित उपदेशों का महाराणा के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। महाराणा का पहले से ही संस्कृत की ओर झुकाव तो था ही और इस सत्समागम से दर्शन-शास्त्रों की ओर भी उनका अनुराग बढ़ा। उन्होंने संस्कृत--शैली से सब राजकीय कार्यालयों के नाम रक्खे, जैसे महद्राज-सभा, शैलकान्तार-सम्बन्धिनी सभा, निज-सैन्य-सभा, शिल्प-सभा आदि। महाराणा के हृदय पर महर्षि की विद्वत्ता का सिक्का जम गया था, इसलिए वैशेषिक दर्शन, पातञ्जलयोगसूत्र और मनुस्मृति आदि ग्रंथों को महर्षि से सुना करते थे। उन (महाराणा) की स्मरण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि वे एक घन्टे में मनुस्मृति के ३२ श्लोकों का आशय याद कर लेते थे। उन्होंने महर्षि से कुछ योग सम्बन्धी क्रियाएँ भी सीखीं, परन्तु फिर बीमार रहने से वे उनमें विशेष उन्नति न कर सके।

महाराणा जवानसिंह के पश्चात् चार पीढ़ी तक बागोर की शाखा से गोद लिये जाकर महाराणा बनाए गए थे और उनमें से किसी के संतति न हुई। इस वर्ष महाराणा सज्जनसिंह की तीसरी महाराणी के, जो ईडर की थी, गर्भस्थिति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, तब प्राचीन रीति के अनुसार गर्भ--रक्षार्थ नाना प्रकार के अनुष्ठान, जप-योग आदि होने लगे। महर्षि ने भी यह वृत्तान्त सुना। हवनादि कार्यों में भाग लेने की प्रार्थना पर महर्षि ने भी, जो यज्ञादि के बड़े पक्षपाती थे और दैनिक कृत्यों में हवन को गृहस्थ का मुख्य कर्म समझते थे, वैदिक रीति से यज्ञ करवाया। यज्ञ का फल शुभ हुआ और माघ शु० २ (ता० ९ फरवरी सन् १८८२ ई०) को महाराणा के कुँवर का जन्म हुआ। इस शुभ अवसर पर उक्त महाराणा ने दस लाख रुपये व्यय करना निश्चय किया था, परन्तु उस नवजात राजकुमार का उसी रात्रि को परलोक--वास हो गया, जिससे सारा हर्ष शोक में

परिणत हो गया, तो भी महाराणा ने राजकुमार की पुण्यस्मृति में एक अच्छी रक़म फीरोज़पुर के अनाथालय को भेज दी।

महर्षि के सत्संग से महाराणा की दिनचर्या में बड़ा परिवर्तन हुआ और वे प्रत्येक कार्य नियत समय पर करने लगे। लोकोपयोगी कार्यों में प्रतिदिन महाराणा की रुचि बढ़ने लगी। महर्षि ने महाराणा को परामर्श दिया कि क्षत्रियों के लिए पृथक् पाठशाला बनाई जाकर उन्हें शास्त्रोक्त विधि से हर तरह की शिक्षा देने के साथ शस्त्रास्त्र-शिक्षा की भी योजना की जाय। महाराणा ने इस बात को स्वीकार किया, किन्तु उनके अस्वस्थ रहने से वह कार्य स्थगित रहा। मेवाड़ में राजकीय भाषा हिन्दी थी, परन्तु उसमें फ़ारसी शब्दों का अधिक प्रयोग होता था। यह देख महर्षि ने महाराणा को राजकीय भाषा में शुद्ध नागरी को स्थान देने और साधारण लोगों के समझ में आ सके, ऐसी भाषा के रखने का आग्रह किया। स्वामीजी का आदेश स्वीकार कर महाराणा ने नागरी लिपि और सरल भाषा में कार्य होने की आज्ञा जारी की। महर्षि ने महाराणा को स्वदेशी वैद्यों द्वारा चिकित्सा कराने और देशी औषधालय जारी करने का भी परामर्श दिया था; परन्तु महाराणा का देहावसान हो जाने से वह कार्य पूरा न हो सका।

महर्षि ने उदयपुर में ही 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय संस्करण को समाप्त कर वि० सं० १६३६ भाद्रपद के शुक्ल पक्ष में उसकी भूमिका लिखी और वहीं रहते समय परोपकारिणी सभा की स्थापना कर महाराणा को उसका सभापति नियत किया। महाराणा ने भी उस सभा की सहायता के लिए दस हज़ार रुपये दिये और उनके सरदारों आदि ने भी इस कार्य में सहयोग दिया, जिससे एक अच्छी रक़म एकत्र हो गई। यद्यपि स्वामीजी के शरीर में व्याधि का लेशमात्र भी नहीं था, तो भी उन्होंने शरीर को अनित्य जान अपने संग्रह किये हुए ग्रन्थ, धन और यन्त्रालय आदि को परोपकार में लगाने की आज्ञा देकर उदयपुर में ही उसका स्वीकार-पत्र तैयार किया और उसके २३ ट्रस्टियों में महाराणा के अतिरिक्त मेवाड़ से ही सात सदस्य (बेदला के राव तख्तसिंह, देलवाड़े के राज फ़तहसिंह, आसींद के रावत अर्जुनसिंह, शाहपुरे के राजाधिराज नाहरसिंह, शिवरती के महाराजा गजसिंह, कविराजा श्यामलदास और पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या) रक्खे गये। इससे निश्चय होता है कि महाराणा और उसके सरदारों के सम्मिलित होने से आर्यसमाज की अधिकाधिक उन्नति होने का महर्षि को विश्वास था।

महाराणा ने महर्षि से षड्दर्शनों का भाष्य छपवाने का अनुरोध किया और उसके लिये बीस हज़ार रुपये अपनी ओर से व्यय करने का वचन दिया। फाल्गुनवदि ६ (ता० २७ फ़रवरी ई० स० १८८२) को महाराणा से विदा होकर महर्षि शाहपुरा गये। उस अवसर पर महाराणा ने

स्वयं उनके पास जाकर विदायगी के सम्मान-रूप दो सहस्र रुपये भेंट किये, परन्तु महर्षि ने उन्हें लेना मंजूर नहीं किया। फिर महाराणा ने वह द्रव्य परोपकारिणी सभा को दे दिया। महर्षि उदयपुर से शाहपुरा और वहाँ से जोधपुर गये, जहाँ उन्होंने प्राचीन वैदिक धर्म की महत्ता बतलाते हुए अन्य प्रचलित धर्मों की कई बातों का खण्डन किया, जिससे वहाँ उनके बहुतसे शत्रु हो गये। अन्त में कुछ दुष्टों ने चिढ़कर उनके आहार में विष मिला दिया; जिसके प्रभाव से कई दिन पीड़ित रहकर वि० सं० १९४० कार्तिकवदि ३० (ता० ३० अक्टोबर ई० स० १८८३) को उनका निर्वाण हुआ।

महर्षि के बीमार होने की सूचना पाते ही महाराणा ने पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या को यह आदेश देकर उनके पास भेजा कि यदि महर्षि के निर्वाण की संभावना हो, तो ऐसा प्रबन्ध कराना कि मैं भी उनके अन्तिम दर्शन कर सकूँ, परन्तु समय थोड़ा रह जाने से महाराणा को यह अभिलाषा पूरी न हो सकी।

महाराणा ने महर्षि के निर्वाण का संवाद सुना, तब वे शोक-सागर में डूब गये और उन्होंने उसी समय निम्नलिखित छन्द रचकर महर्षि के प्रति अपूर्व श्रद्धा के साथ शोकोद्गार प्रकट किया—

दोहा

नभ-चत्र-ग्रह-ससि दीप-दिन, दयानंद सह सत्त्व।
वय त्रैसठ वत्सर विचै, पायो तन पंचत्व॥

कवित्त

जाके जीह--जोर तें प्रपंच फिलासिफन को,
अस्त सो समस्त आर्य्य-मंडल में मान्यो मैं।
वेद के विरुद्धी मत-‌-मत के कुबुद्धि मंद,
भद्र--भद्र आदिन पै सिंह अनुमान्यो मैं॥
ज्ञाता षट्ग्रंथन को वेद को प्रणेता जेता,
आर्य-विद्या-अर्क हू को अस्ताचल जान्यो मैं।
स्वामी दयानंदजू के विष्णु-पद प्राप्त हू तें,
पारिजात को सो आज पतन प्रमान्यो मैं॥

देश का दुर्भाग्य है कि महाराणा सज्जनसिंह भी अधिक न जिये और वि० सं० १९४१ पौष सुदि ६ (ता. २३ दिसम्बर ई० स० १८८४) को इस असार संसार से विदा हो गये। यदि वह कुछ वर्ष और और जीवित रहते, तो आर्यसमाज का इतिहास किसी अन्य रूप में लिखा जाता।

पुण्य-भूमि मेवाड़ के प्रति महर्षि की अपूर्व श्रद्धा थी और चित्तौड़ को वे हिन्दू-जाति का पवित्र तीर्थ समझते थे। चित्तौड़ में रहते समय उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि भारत में गुरुकुल के योग्य यदि कोई स्थल है, तो वह चित्तौड़ ही है; अतएव चित्तौड़ में गुरुकुल बनाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। प्रसन्नता का विषय है कि अब कुछ वर्ष पूर्व महर्षि की यह आकांक्षा सफल होकर चित्तौड़ में गुरुकुल स्थापित हुआ है।

महर्षि के प्रयत्न से हिन्दू--समाज के विचारों में बहुत--कुछ परिवर्तन हुआ, अनेक नगरों में आर्यसमाज स्थापित हुए और लोगों में नवीन विचार तथा जागृति उत्पन्न हुई। जो लोग हिन्दू-धर्म को छोड़कर अन्य-धर्मावलम्बी बनते थे, उन्हें रोकने और जो अन्य धर्म ग्रहण कर चुके थे, उन्हें पुनः शुद्ध कर वैदिक धर्म में मिलाने के लिए शुद्धि का आयोजन किया गया। महर्षि ने अपने उपदेशों के समस्त ग्रन्थ हिन्दी भाषा में प्रकाशित किये, जिससे हिन्दी की बहुत-कुछ उन्नति हुई। पंजाब जैसे देश में, जहाँ हिन्दी भाषा का कुछ भी प्रचार न था, आर्यसमाज के अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप हिन्दी का यथेष्ट प्रचार हुआ और हो रहा है। महर्षि के उपदेश से वैदिक धर्म की जागृति हुई, इतना ही नहीं, किन्तु हिन्दू--जाति में समाज--सुधार का काम चल निकला। कई स्थानों पर कन्या--पाठशालाएँ खुलीं। जालन्धर के कन्या--महाविद्यालय में सैकड़ों बालिकाएँ हिन्दी के साथ उच्चकोटि की शिक्षा पा रही हैं। उनके सदुपदेशों के कारण स्थान-स्थान पर गुरुकुल खुले, जहाँ अनेक विद्यार्थी संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि में उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त कर अनेक लोकोपयोगी कार्यों में भाग ले रहे हैं। सारे भारत में इस समय जो जागृति देख पड़ती है, उसका मुख्य कारण महर्षि के उपदेश ही हैं।

इन पंक्तियों के लेखक को बम्बई में रहते समय सन् १८८१ ई० के दिसम्बर से सन् १८८२ ई० के मई मास तक महर्षि के अनेक व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उसका बहुत-कुछ प्रभाव उसके चित्त पर पड़ा। अतएव दयानन्द--निर्वाण--अर्द्धशताब्दी के सुअवसर पर उक्त आदरणीय महापुरुष, आदर्श विद्वान्, अपूर्व वेदज्ञ, निर्भीक धर्मप्रवर्तक, सच्चे समाज--सुधारक, आर्य--संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कर्ता, विश्वप्रेमी महर्षि दयानन्द सरस्वती के चिरस्मरणीय जीवन--कार्य की स्मृति में लेखक की यह लेख-रूप श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

दयानन्द कोमेमोरेशन वोल्युम्,
अजमेर से प्रकाशित, पृ० ३६१-३७२

---

४ उदयपुर राज्य में श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय के तीर्थ

सम्राट् अकबर महान् से पूर्व गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद, अफ़गान (लोदी) आदि वंशों का दिल्ली-सल्तनत पर अधिकार रहा; किन्तु हिन्दुओं के प्रति उनका सद्भाव न होने से उनमें से किसी भी वंश का राज्य सौ वर्ष तक नहीं रहा। यद्यपि अकबर अधिक लिखा-पढ़ा नहीं माना जाता, तथापि उसकी प्रतिभा, योग्यता और सब धर्मों तथा जातियों को समान दृष्टि से देखने की नीति के कारण उसके साम्राज्य की जड़ मज़बूत हो गई। उसके पुत्र जहाँगीर तथा पौत्र शाहजहाँ के समय तक मुगल-साम्राज्य बराबर उन्नति करता रहा, किन्तु औरंगज़ेब के समय में उस पर विनाश की काली घटाएँ घहराने लगीं। उसके विनाश का मुख्य कारण औरंगज़ेब की अत्यधिक धार्मिक असहिष्णुता ही है। औरंगज़ेब ने हिन्दुओं पर नाना प्रकार के अत्याचार किये, इतना ही नहीं; किन्तु उनके अनेक तीर्थ स्थानों को नष्ट किया, एवं काशी, मथुरा, पुष्कर आदि प्रसिद्ध तीर्थों के हिन्दू मन्दिरों को गिरा कर उनके स्थान में मस्जिदें भी बनवाईं।

उस समय श्रीनाथजी की मूर्ति की पूजा गोवर्धन-निवासी गुसांईजी श्री दामोदरजी [१] (बड़े दाऊजी) के हाथ में थी।

---

१ ये वल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक वल्लभाचार्यजी के वंशज और गिरिधरजी टीकायत (तिलकायत) के पुत्र थे। श्रीनाथजी की जिस मूर्ति की ये पूजा करते थे, वह श्री वल्लभाचार्यजी को गोवर्धनपर्वत पर मिली थी, ऐसी प्रसिद्धि है। श्री वल्लभाचार्यजी के पश्चात् इस मूर्ति की पूजा उनके पुत्र विट्ठलनाथजी को मिली। विट्ठलनाथजी के सात पुत्र हुए, जिन सब के पूजन की मूर्तियाँ अलग-अलग थीं। ये मूर्तियाँ वैष्णवों में "सात स्वरूप" के नाम से प्रसिद्ध हैं। विट्ठलनाथजी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी टीकायत (तिलकायत) हुए, इसी से उनके

जब उन्हें औरंगज़ेब के द्वारा अपनी मूर्ति के तोड़े जाने का भय हुआ, तब वे विक्रम सम्वत् १७२६ (ईस्वी सन् १६६६) में श्रीनाथजी की प्रतिमा को लेकर गुप्त रीति से गोवर्धन से निकल गये और आगरा, बूँदी, कोटा, पुष्कर तथा कृष्णगढ़ (किशनगढ़) में ठहरते हुए चाँपासनी गाँव में पहुँचे; जो जोधपुर से तीन कोस की दूरी पर है, किन्तु जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंहजी के अधिकारियों में साहस का अभाव देख कर, गोस्वामीजी के काका गोपीनाथजी उदयपुर के महाराणा राजसिंहजी के पास पहुंचे और श्रीनाथजी की प्रतिमा की रक्षा के लिए प्रार्थना की, जिस पर महाराणा ने उत्तर दिया कि आप प्रसन्नता पूर्वक श्रीनाथजी की मूर्ति को मेरे राज्य में ले आवें। मेरे राज्य के एक लाख राजपूतों के सिर कट जावेंगे, उसके बाद औरंगज़ेब इस मूर्ति को हाथ लगा सकेगा। इस पर गोपीनाथजी बड़े प्रसन्न होकर चाँपासनी को लौटे और विक्रम सम्वत् १७२८ (ईस्वी सन् १६७१) कार्तिकसुदी पूर्णिमा को वहाँ से प्रस्थान कर मेवाड़ की तरफ चले। जब वे मेवाड़ की सीमा में पहुंचे तो महाराणा राजसिंहजी उनकी पेशवाई के लिए उपस्थित हुए और श्रीनाथजी की मूर्ति को लाकर बनास नदी के किनारे सिहाड़ गाँव के पास वाले खेड़े (छोटा सा गाँव) में विक्रम सम्वत् १७२८ में फाल्गुण बदी सप्तमी के दिन स्थापित किया। यहाँ एक नया गाँव बस गया और धीरे-धीरे उसकी उन्नति होने लगी। अब तो वह दस हजार से अधिक स्थायी आबादी का एक अच्छा कस्बा बन गया है, जो श्रीनाथ-द्वारा के नाम से प्रसिद्ध है।

श्रीनाथद्वारा—

यह वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों एवं अन्य वैष्णवों का सबसे बड़ा तीर्थ है, जहाँ न केवल भारतवर्ष के ही किन्तु भारत से बाहर के अनेक देशों के वैष्णव भी बड़ी संख्या में प्रति वर्ष यात्रा के लिए आते हैं, तथा बहुत कुछ भेंट भी चढ़ाते हैं। विशेष प्रसंगों पर यहाँ आने वाले वैष्णवों की संख्या एक लाख तक पहुँच जाती है।

यहाँ पूजा, भारत के अन्य भागों के मन्दिरों के समान वेद-मन्त्रों आदि से नहीं; किन्तु केवल भक्ति पूर्वक ही होती है। अन्य देवालयों के समान दर्शन भी यहाँ घन्टों तक नहीं होते; पुष्टि मार्ग के अनुसार केवल समय-समय पर ही होते हैं, जिनको "झाँकी" कहते हैं। प्रातःकाल से शयन-समय तक कई झाँकियाँ होती हैं, जो उत्थान, शृङ्गार, ग्वाल, राजभोग, शयन आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी

वंशज नाथद्वारे के गुसांई टीकायत महाराज कहलाते हैं। श्रीनाथजी की प्रतिमा इन्हीं गिरिधरजी के पूजन में थी और इनके पीछे इनके पुत्र गुसांई दामोदरजी को प्राप्त हुई।

जाती हैं। प्रत्येक झाँकी के समय श्रीनाथजी की मूर्ति का शृङ्गार झाँकी के नाम के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है तथा उपकरण भी उसी प्रकार के होते हैं, जैसे 'ग्वाल' के समय चाँदी की गौएँ बछड़े आदि सजाए जाते हैं। शृङ्गार के लिए पुष्प, रत्न, आभूषण आदि अनेक वस्तुओं का उपयोग होता है। सजावट के लिए भिन्न-भिन्न झाँकियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प, मालाएँ आदि सजाए जाते हैं। शृङ्गार वास्तव में अनुपम होते हैं, जिनका ठीक-ठीक अनुमान प्रत्यक्ष दर्शन से ही हो सकता है। प्रत्येक झाँकी के समय दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषों की बड़ी भीड़ रहती है। झाँकियों के समय मूर्ति के सामने बाहर के आँगन में गायक लोग झाँकी के अनुरूप वाद्य यन्त्रों के साथ नियत गान भजन इत्यादि भी गाते हैं। नित्य प्रातःकाल उत्थान की झाँकी के पूर्व वीणा की मधुर ध्वनि श्रवण गोचर होती है।

मन्दिर का वैभव भी राजसी ढङ्ग का है। मेवाड़ के अतिरिक्त राजपूताना एवं बाहर के राजाओं, सरदारों आदि की तरफ़ से भी कई गाँव, कुएँ आदि मन्दिर की भेंट हैं। यहाँ की वार्षिक आय कई लाख की है और खर्च भी कई लाख का है। यहाँ के 'भोग' अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। जितने विविध प्रकार के और उत्तम यहाँ के 'भोग' होते हैं, उतने शायद ही कहीं अन्यत्र होते हों। अन्न, दूध आदि के नाना प्रकार के व्यंजन एवं अनेक प्रकार के फल भिन्न-भिन्न झाँकियों और दर्शनों के समय बड़े-बड़े पात्रों में सजाये जाते हैं। यहाँ भोग के लिए दूध के जो नाना प्रकार के व्यञ्जन बनाए जाते हैं, उनके लिए कई सौ गायें यहाँ की गौशाला में रक्खी जाती हैं। श्रीनाथजी का प्रसाद जापान इत्यादि दूर-दूर के देशों तक पार्सलों द्वारा वहाँ के वैष्णवों के पास भेजा जाता है। यहाँ के जैसी प्रसादों की उत्तमता और बृहत् व्यवस्था भारत के किसी भाग के किसी भी तीर्थ स्थान या मन्दिर में देखने में नहीं आई।

"अन्नकूट" तथा "दोलोत्सव" यहाँ मनाए जाने वाले त्यौहारों में सब से अधिक महत्त्व पूर्ण हैं और बड़े ही समारोह के साथ मनाए जाते हैं। अन्नकूट के अवसर पर हजारों बाहर के यात्री यहाँ दर्शनार्थ आते हैं। इस अवसर पर अनेक प्रकार की बृहत् भोजन-सामग्री श्रीनाथजी के सन्मुख सजा कर रक्खी जाती है और मध्य में चालीस-पचास मन पकाये हुए चावलों का एक ढेर रहता है। अन्य सामिग्री के उठा लिए जाने के बाद चावलों का यह ढेर भीलों के लिए छोड़ दिया जाता है और उनके लिए एक तरफ़ का द्वार खोल दिया जाता है। भीलनियाँ टोकरे लेकर बाहर के आँगन में बैठ जाती हैं और भीलों के टोले टिड्डीदल की नाईं उस ढेर पर टूट पड़ते हैं, तथा उसे लूटते हैं। चांवल प्राप्त करने की व्यग्रता में कई बार भील लोग एक-दूसरे पर भी चढ़ जाते हैं। उस समय का दृश्य वास्तव में अद्भुत ही होता है। भील लोग चांवल अपने वस्त्रों में भर-भर कर लाते हैं और अपनी भीलनियों के टोकरे में डाल देते हैं। यदि किसी भील को श्रीनाथजी के अन्नकूट के चांवल न मिलें

तो वह अपने आपको बड़ा हतभाग्य समझता है। भील लोग इन चांवलों को घर लेजाकर सुखाते हैं और दूर-दूर तक अपने रिश्तेदारों के यहाँ पहुँचाते हैं। ये अपने आपको श्रीनाथजी के अनन्य भक्त मानते हैं, तथा इन चांवलों को खाकर अपने को परम पवित्र हुआ समझते हैं। इन जंगली लोगों में भी श्रीनाथजी के प्रति इतनी श्रद्धा है।

दोलोत्सव भी बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। इस अवसर पर भी भारत के भिन्न-भिन्न भागों के स्त्री-पुरुषों का बड़ा अच्छा समारोह दिखाई पड़ता है। इस समय की झाँकी बड़ी दर्शनीय होती है। सोने का एक विशाल हिंडोला सजाया जाता है, जिसमें श्रीनाथजी के प्रतीक-रूप एक मूर्ति रक्खी जाती है और गुसांईजी स्वयं उसे झुलाते हैं। इस दृश्य को देखने के लिए दर्शकों की खासा भीड़ रहती है।

यहाँ के गोस्वामियों ने ही इस तीर्थ की महिमा इतनी बढ़ाई है। गोस्वामीजी महाराज गोवर्धनलालजी जिनका स्वर्गवास अभी कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है, बड़े विद्यानुरागी, संगीतप्रेमी तथा अपने स्थान की बड़ी उन्नति करने वाले हुए। उनके सद्व्यवहार से इस तीर्थ की बड़ी उन्नति हुई और अनेक बड़ी-बड़ी धर्मशालाएँ बनी, जिससे यात्रियों के ठहरने का सब तरह से सुभीता हो गया है। उन्होंने नाथद्वारे में संस्कृत पाठशाला, अँग्रेजी तथा हिन्दी के मदरसे, देशी औषधालय, अस्पताल, पुस्तकालय आदि स्थापित किये। संस्कृत के कई विद्वानों को भी वे अपने पास बड़े आदर पूर्वक रखते थे। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान्, भारत-मार्तण्ड पण्डित गट्टूलालजी को उन्होंने बड़े आग्रह के साथ कई वर्षों तक नाथद्वारे में रक्खा था। महाराज विद्याप्रेमी होने के अतिरिक्त बड़े मिलनसार, गुणग्राहक और श्रीनाथजी की सेवा में सदा तत्पर रहते थे। उन्हीं के समय में नाथद्वारे में पोस्ट ऑफिस के अतिरिक्त तारघर, बिजली की रोशनी, पुलिस आदि की व्यवस्था हुई। उदयपुर के महाराणाओं की तरफ से श्रीनाथद्वारे को सीमित दीवानी और फौजदारी अधिकार भी प्राप्त हैं। नाथद्वारा पहाड़ों के बीच नीची भूमि पर स्थित है, किन्तु पास ही बनास नदी, जिस पर पक्का पुल बना हुआ है, बहती है, जिससे यहाँ के निवासियों तथा यात्रियों को पीने एवं नहाने-धोने के लिये जल का बहुत सुभीता है।

काँकरोली।

नाथद्वारा से दस मील उत्तर में महाराणा राजसिंहजी के बनवाये हुए राजसमुद्र नामक सुविशाल जलाशय के दो बाँधों के बीच की पहाड़ी पर काँकरोली नामक गाँव बसा हुआ है। यहाँ पर वल्लभ-संप्रदाय के 'सात स्वरूपों' [1] में से द्वारिकाधीशजीकी मूर्ति स्थापित है। यह मूर्ति श्रीनाथजी

१ देखिये टिप्पण नम्बर १.

की मूर्ति के मेवाड़ में स्थापित किये जाने के कुछ वर्ष पूर्व यहाँ लाई गई थी। यहाँ की झाँकी पूजा आदि का क्रम ठीक वही है जो नाथद्वारे में है परन्तु आय कम होने से यहाँ के 'भोग' आदि कुछ न्यून रूप से होते हैं। यहाँ भी यात्रियों के लिए धर्मशालाएं आदि बनी हुई हैं और नाथद्वारे जाने वाले अधिकांश यात्री यहाँ भी दर्शनों के लिए जाते हैं।

यहाँ के गोस्वामीजी उदयपुर के महाराणाओं के वैष्णव गुरू हैं। नाथद्वारा के गुसाइयों की भाँति इनके भी विद्या प्रेमी होने के कारण यहाँ भी सदा से विद्वानों का सम्मान होता रहा है। यहाँ एक बहुत बड़ा सरस्वती भण्डार भी है, जिसमें छपी हुई पुस्तकों के अतिरिक्त हस्तलिखित संस्कृत और हिन्दी पुस्तकों तथा प्राचीन चित्रों का इतना बड़ा और ऐसा सुव्यवस्थित संग्रह है कि उसकी समता किसी एक स्थान का संग्रह नहीं कर सकता। हस्तलिखित पुस्तकों में अनेक ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें विषयानुसार सुन्दर रङ्गीन चित्र भी बने हुए हैं। तीन-चार वर्ष पूर्व इस संग्रह में गीता की एक अनुपम प्रति मेरे देखने में आई थी जो रङ्गीन कागजों पर श्वेत स्याही से लिखी हुई है। मैंने अपनी "भारतीय प्राचीन लिपिमाला" के द्वितीय संस्करण में भारतीय लेखन-सामग्री का वर्णन किया है; किन्तु उसमें श्वेत स्याही का वर्णन नहीं किया, क्योंकि उस समय तक मेरे देखने में ऐसी कोई पुस्तक नहीं आई, जो श्वेत स्याही से लिखी गई हो। ऐसी अन्य पुस्तक संसार भर के किसी अन्य प्राचीन पुस्तकों में शायद ही मिले। चित्र संग्रह में भी कई ऐसे सुन्दर चित्र हैं, जिनका अन्यत्र मिलना कठिन है।

वर्तमान गोस्वामीजी महाराज ने, विद्या और कला के इस अनुपम भंडार को प्रत्येक दर्शक आसानी से देख सके, इसकी उत्तम व्यवस्था करदी है जिसके लिए वे बड़े धन्यवाद के पात्र हैं।

नाम माहातम, भाग ४ संख्या १, ई० स० १९४१

OJHA NIBANDHA SANGRAHA

PART FOURTH

---

written by

LATE Dr. GAURI SHANKER H. OJHA.

D. Litt.

Edited and Published

by

Historical Research Section

SAHITYA SANSTHAN

RAJASTHAN VISHWA VIDYAPEETH

UDAIPUR (Rajasthan)

1954

Vidyapeeth Printing Press, Udaipur.

CONTENTS

चौथा भाग (अँग्रेजी, निबन्ध और भाषण) Part 4. Essays & Speeches.

Section I Essays — पृष्ठ संख्या

1 Partabgarh Inscription of the time of (the Pratihara) King Mahendra pala II of Mahodaya Samvat 1003. — 1

2 The Death of sindhuraja. — 22

3 The Nanana Grant of Chaulukya King Kumara Pala Deva of Gujarat Dated Vikrama Samvat 1212 — 27

4 The Ahada Grant of Chaulukya Bhimdeva II of Gujarat (Vikrama year 1263) — 32

Section II Speeches

1 The Western Kshatraps.

2 Presidential Address.

SECTION 1 ESSAYS.

1 :— PARTABGARH INSCRIPTION OF THE TIME OF [The PRATIHARA] KING MAHENDRA-PALA II. OF MAHODAYA : SAMVAT 1003.

Some time ago a friend of mine wrote to me of the existence of an INSCRIBED STONE at Partabgarh, the contents of which no one in the locality could read, except the date, Samvat 1003, which was plain enough. I hurried to the spot at the first opportunity available and found the inscription containing a series of grants described below. The stone in question was affixed to a Chabutra, or platform, near Chenram Agraval's Bawri (a well with steps leading to it) at Partabgarh, the capital of the State of that name in southern Rajputana. On examination I found the record to be of great historical importance; and at my request the Maharaj Kumar of Partabgarh was kind enough to present it to the Rajputana Museum, Ajmer, where it is now deposited. In spite of being constantly exposed to the inclemencies of weather, the stone is in a fair state of preservation and can easily be read, only a few letters here and there being indistinct. A portion of the stone at the left-hand top corner is broken off, and the commencement of the first five lines is lost.

The INSCRIPTION contains 35 lines of writing — 34 full lines and one line only 1′ 8″ long—which cover a space of 2′ 6″ broad by 2′ 2¼″ high. Except for four verses (II. 1-4)

at the beginning of the first, five and a half (II. 14-19) at the beginning of the second, a laudatory verse (II. 30-31) at the end of the third and an imprecatory one (II. 34-35) at the end of the fourth part, the inscription is in prose.

The CHARACTERS belong to the northern class of alphabets of the 10th century and show no special peculiarities except, in two instances (°paryanto , 1. II ; °paryantam, 1. 24), the medieval form of rya, without the lower right-hand stroke as well as the separate sign of r on the top, as is found in the Udaipur (in Rajputana) inscription[1] of the time of the Guhila Raja Aparajita, the Jhalrapatan inscription[2] of the time of Durgagana, etc. Line 13 contains numerical symbols sam and lri for 100 and 10 respectively.

The LANGUAGE is Samskrit throughout, corruptions and solecisms being frequent in the last three grants. A locative was probably intended in 1. 20 °srisamme (read °sarmmani) cha vyaparam kurvvate (read kurvvati), and a passive construction suddenly ends in active in II. 20-22, 'Madhavena . . . . . . sutena . . . . vodhayati.' The neuter gender is grossly misused in II. 24-25, while 'aghata' is neuter in 1. 28 and masculine in 1. 32. Cases do not agree in 1. 31 "°rajena . . . . sutah' (read sutena), while the rules of Samdhi are not observed in some cases (II. 2, 4, 14, 18, etc.) and misused in others (II. 11, 12, 27, etc.). Other grammatical irregularities are shown in the footnotes accompanying the text.

Some desi words of the local dialect are used in Samskrit composition. Harirshesvara in I. 12 is to be divided into Hari and Rishesvara, the latter being a modification of Rakhesar, still used in the vernacular of these parts for Rishisvara. Arahatena (I. 26) is the instrumental form of Arahata, a Persian wheel, the Samskrit form being 'araghatta' Kitika (I. 26) is Samskritized

---

1 Ep. Ind; Vol. IV, p. 31 2 Ind, Ant; Vol. V. p. 181.

from kidi or kida, a matting screen, akin to Samskrit kata. Kosavahe (1. 31) is applied to as much land as can be irrigated by one kosa, or leather bucket, and mani (1. 31) is a local measure of twelve maunds. Chausara (1. 33) is a garland of four strings. Metta (1. 29) is the Prakrit form of matra. Palika (1. 33) is probably used for puli, or bundle of leaves. Ghana (1. 33) is an oil-mill and Palika (1. 33) is a measure of capacity approximating to six tolas and commonly called pali or pala.

The meaning of sadhara (II. 26 and 32) is not clear: it may mean 'with the adjacent grounds' or may be an abbreviation of sadharana (common). Vaha (1. 32) is the common highway and kachchha (II. 26 and 28) is a field bordering on a stream.

As regards ORTHOGRAPHY, it may be noted that v is used for b throughout and n for n(ण) in some instances: punya (1. 11, twice), hiranya (II. 13 and 24) saranya (1. 17) and grihnati (1. 30). Dental s is used for the palatal in ajnasravana (1. 12), and sadrisum (1. 18) is an example of the converse. Consonants are mostly doubled after r but the necessary doubling is not shown in protarita (1. 15), patatrinah (1. 16) and ◦ ı heta (1. 35). The doubling of t before r is seen in puttra (II. 6 and 8) and pittroh (1. 11) and °hitattri°(1. 13), but not everywhere (e.g., putra in II. 5. 6. 7). n at the end of a word is not joined generally to the next word (II. 20. 21, 22. 29). The anusvara is used for the appropriate nasal in kahimkyam gamgayam (1. 11),°limgita° (1. 16), °damgajo (1. 17) khomta° (1. 23), likhyamte (1. 28) kshetramtaritam (1. 29), bhavamtu (1. 1); chimta (1. 18), tamttra (1. 20); it is wrongly replaced by m in param=bha° (1. 7) and is redundant in °manamnvaya (1. 15) and °chinmntya (1. 23). Of the class-nasals, n is frequently used (II. 15, 22, etc.), once wrongly for n (pancha, 1. 26); n(ण) occurs, in II. 15 and 19 and once wrongly in vansa (1. 25); and n in 1. 16. Omissions of visarga (II. 4, 5, etc.), its redun-

dant use (II. 20, 21, 30), and instances of letters (II. 10, 27, 30, 31) and particles (II. 23, 18) left out are specified in the footnotes. There are no symbols for avagraha, jihvamuliya of upadhmaniya. The necessary punctuation marks are omitted in some places (II. 2, 3, etc.), and there are redundant lines (II. 1. 3, etc.) in otheres. Other mistakes are pointed out at the porper places.

All the grants recorded in the inscription are in favour of shrines attached to the monastery of HARI-RISHISVARA, who originally belonged to DASAPURA (1. 12). Under its management were the shrines of Vata-yakshini Devi (II. 12, 33), Indraditya-deva or Indrarajaditya-deva (II. 23, 28) and Trailokya-mohana-deva (1. 33) which were situated at the village of Ghonta-varshika, where there was also a temple dedicated to Nityapramudita-deva (1. 23). Chief among the deities was Indraditya-deva, who is spoken of as "(the deity) of Ghonta-varshika" (1. 28), while Trailokya-mohana-deva is spoken of as "(enshrined) within the grounds of Indraditya-deva" (1. 31). This pre- eminence is borne out by the verses (II. 1-2) in praise of the sun-god (Indraditya-deva), which precede those (II. 3-4) extolling Durga (Vatayakshini Devi), who is the donee proper of the first grant.

The occasion of the grant of a village to Vata-yakshini Devi by the king of Mahodaya in Samvat 1003 was used by the authorities of the monastery for the purpose of consolidating on one stone all the grants in favour of one or other of the temples attached to it. Such consolidation of grants belonging to one institution, but issued at different periods, is not rare in Rajputana. We have an instance of it in the Vasishtha temple inscription[1] at Mount Abu.

---

1 Ind Ant., Vol. II, P. 256.

The INSCRIPTION is naturally divided into four parts:—

I. A grant of a village in favour of Vata-yakshini Devi issued by Maharaja MAHENDRAPALA-DEVA II. of MAHODAYA (Kanauj), dated Samvat 1003, or A.D. 946 (II.1-14).

II. A grant of a village, etc., in favour of Indraditya-deva by MADHAVA, the provincial governor of Ujjain (Under the same king), at the request of Chahamana INDRA-RAJA, a feudatory chief, without date (II. 14-27).

III. A grant of a field in favour of Indrarajaditya-deva by BHARTRI-PATTA son of KHOMMANA, dated Samvat 999 or A. D. 942 (II. 27-31).

IV. Minor grants to different deities by different persons, undated (II. 31-35).

PART I.

The first grant recorded in the inscription–though it is not the first from a chronological point of view–begins with two benedictory verses invoking the sun-god, followed by two Similar verses in praise of the goddess Durga (II. 1-4). It is issued from the capital at Mahodaya and gives the genealogy of the donor as follows:—

1. Maharaja DEVA-SAKTI-DEVA,a devotee of Vishnu;

2. His son, born of [queen] BHUYIKA-DEVI, Maharaja VATSA-RAJA-DEVA, a devotee of Mahesvara (Siva);

3. His son, born of [queen] SUNDARI-DEVI, Maharaja NAGA-BHATA-DEVA, a devotee of Bhagavati (Durga);

4. His son, born of [queen] ISATA-DEVI, Maharaja RAMA-BHADRA-DEVA, a devotee of the sun-god;

5. His son, born of [queen] APPA-DEVI, Maharaja BHOJA-DEVA, a devotee of Bhagavati;

6. His son, born of [queen] CHANDRA-BHATTARIKA-DEVI, Maharaja MAHENDRA-PALA (1.) a devotee of Bhagavati;

7. His son, born of [queen] MAHADEVI-DEVI, Maharaja VINAYAKA-PALA-DEVA, a devotee of the sun-god;and

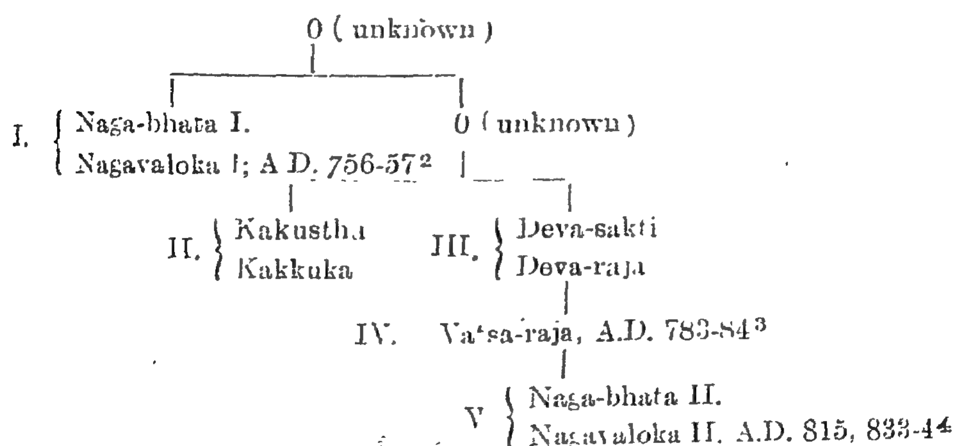
8. His son, born of [queen] PRASADHANA-DEVI of the DEVATHADDHI (?) family, Maharaja MAHENDRA-PALA-DEVA (II.) a devotee of Mahesvara (II. 5-9).

The last-named king enjoins all and sundry residing in the village of KHARPARA-PADRAKA, in the holding of TALA-VARGIKA-HARISHADA, and situated in the vicinity of Ghonta-varshika in the western PATHAKA (district) of DASA-PURA,—and the residents of the neighbourhood, that the said village Kharpara-padraka, with all rights belonging thereto, has been bestowed by him, for all time to come, at the request of Dhana-sura,upon the goddess Vata-yakshini Devi, (whose shrine is) connected with the Matha (monastery) of Hari Rishisvara, versed in all the four Vedas, resident of Dasa-pura, on an auspicious day, after bathing in the Kahimki Gamga, for increase of religious merit to the donor's parents (II. 9-12). The grant is written by Purohita TRIVIKRAMA-NATHA, under order from JAJJA-NAGA, is dated the fifth day of the dark half of Margga (Marga-sirsha), in the Samvat year 1003 (A. D. 946), and is signed by SRI VIDAGDHA, "his own hand" (1. 13).

The name of MAHENDRA-PALA (II.), son of VINAYAKA-PALA, comes to our knowledge for the first time from this inscription. There seems to be a double entente in the word prasadhana, in which the writer pays a compliment to the queen-mother, by name Prasadhana-Devi, by calling her the 'ornament of the family of her birth' (1. 9). The name of this family Devathaddhi (?) is not quite clear for purposes of identification. Of the names and places mentioned Mahodaya

(Kanauj) and Dasa-pura (Mandasor), and the names of the kings and queens call for no remark. KHARPARA-PADRAKA is the modern village of KHAROT, 7 miles south-east of Partabgarh. GHONTA-VARSHIKA[1] can be identified with Ghotarsi, 7 miles east of Partabgarh and about 8 miles north-east of Kharot. The KAHIMKI GAMGA (the river Kahimki) cannot be identified. JAJJANAGA was probably the Dutaka of the grant. VIDAGDHA appears to be the Governor of the province who issued this grant under his own signature.

The genealogy of the Pratihāra kings of Mahodaya (Kanauj), in the light of the information available up to the present, would stand thus :—

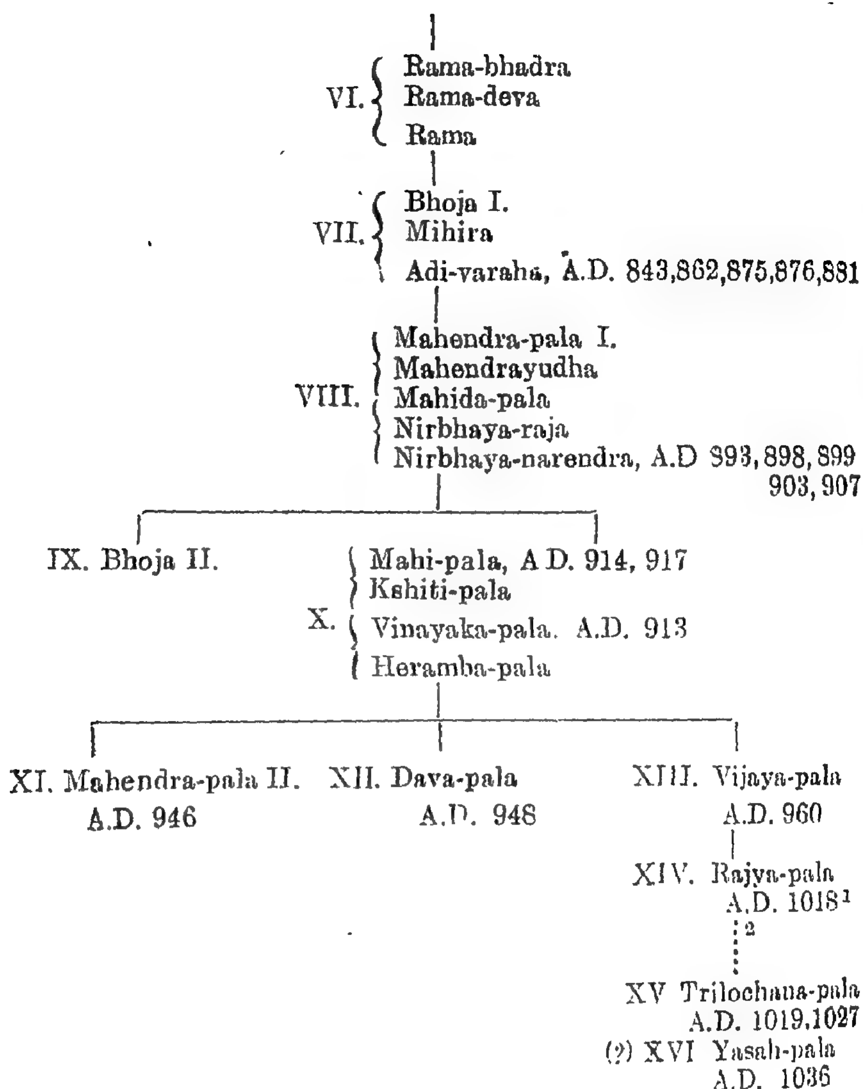


1 The name of this village is spelt as Ghonta-varshika (l. 10) Ghonta-varshika (l. 23) and Ghonta-varshi (l. 34.).

2 This date is from a photograph in my possession of an unpublished copper-plate grant from Hansot, in the district of Broach (Bombay presidency), issued by the Chahamana prince Bhartri-vaddha (Bhartri-vardha) II, a feudatory of king Nagavaloka.

3 From the Jaina *Hari-vamsa Purana* (Bom. Gazetteer, Vol. I, p. 197)

4 The *Prabhavaka-charita* speaks of the death of king Nagavaloka of Kanya-kubja, grand-father of Bhoja, as taking place in Vikrama year 890 (A.D. 833-34) (Nirnayasagara Press ed; p. 177, verses 720-725). The Nagavaloka of the *Prabhavaka-charita* can be identified with no other than



Naga-bhata II. of Kanauj, and the date seems to be accurate, as the first known date of Bhoja I. is A.D. 843.

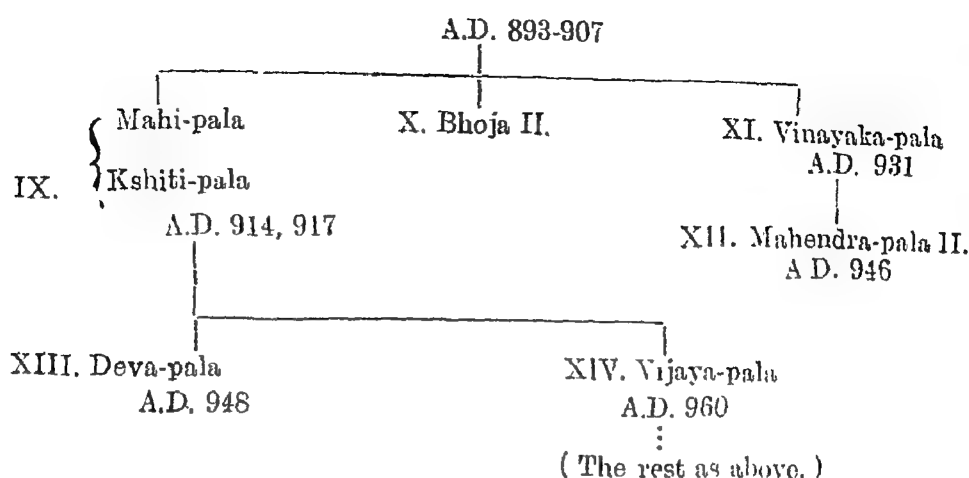
1 This date of Rajya-pala is given by Al-Utbi in his *Tarikh-i--Yamini* (Elliot's Hist., Vol. II, p. 45), where he speaks of Rai Jaipal as the ruler of Kanauj when Sultan Mahmud of Ghazni invaded it. He was killed the next year (A.D. 1019) by the Chandela prince Vidya-dhara, son of Ganda, and Trilochana-pala succeeded him.

2 The dotted line in the table indicates a successor, not necessarily a son.

Deva-pala of Mahodaya is mentioned in the Siyadoni inscription (Ep. Ind., Vol. I, p. 177) as the son of Kshiti-pala, which is evidently a synonym of Mahi-pala; but the same Deva-pala, is identified by the editor of that inscription with Haya-pati Deva-pala, son of Heramba-pala, from whom Yaso-varman obtained the celebrated image of Vaikuntha, mentioned in that king's Khajuraho inscription. This has led to the identification of Heramba-pala, the father of this Deva-pala, with Mahi-pala or Kshiti-pala, the father of Deva-pala of Mahodaya. The fact that Heramba and Vinayaka are synonyms lends colour to this view, the result of which is the identification of two kings with two sets of names —

(1) Mahi-pala and Kshiti-pala ; and
(2) Vinayaka-pala and Heramba-pala,

which is accepted by scholars up to the present and is given in the genealogical tree above; but this identification is based on very slender evidence. That Deva-pala, son of Heramba-pala, who is introduced by the minor title of Haya-pati (lord of horses) is the same as Deva-pala of Mahodaya cannot be established on the casual mention of the former in an inscription of a king of a dynasty other than his own. Haya-pati was never the accepted title of the Pratihara kings of Mahodaya and is not met with in their inscriptions; and there is no ground for assuming that a scion of the paramount dynasty of the Pratiharas was ever known by that appellation. Besides Mahi-pala and Vina-yaka-pala are known to be two different kings of Mahodaya with different dates which do not overlap; and there is no reason to justify their identification. If this view is accepted and the identification of Heramba-pala with Mahi-pala set aside, this part of the genealogy would stand thus :—



PART II.

The second grant begins with a panegyric in praise of the CHAHAMANA family of kings, which is spoken of as having been the source of great pleasure to king Bhoja-Deva. Then mention is made of GOVINDA-RAJA of this dynasty, who fought against many foes; his son DURLABHA-RAJA and his son INDRA-RAJA, who built the great temple dedicated to the sun-god (II. 14-19). We learn further that MADHAVA was 'the great feudatory lord and governor' at Ujjayini and SRISARMAN—appointed by Kokkata who was the commander-in-chief serving at the feet of Paramesvara (i.e. Mahendra-pala II.)—was carrying on the affairs of state as Mandapika (II. 19-20).

The aforesaid Madhava, son of Damodara, being 'great feudatory, great governor and Charged' Affaires,' and having come to Ujjayini on business, bathed at the temple of Maha-KALA, worshipped the god Siva and meditated on the unreality of life and wealth, bestowed, on the MINA-SAMKRANTI day, the village of DHARA-PADRAKA, with all its appurtenances, for repairs to, and maintenance of daily services at, the temple of INDRADITYA-DEVA at GHONTA-

VARSHIKA, a place associated with Nityapramudita-deva, at the request of the great feudatory INDRA-RAJA, son of DURLABHA-RAJA of the CHAHAMANA race. He therefore enjoins all residents of the village and the neighbourhood to observe this order (II. 20-26). A further endowment of a field by the river-side to the north of the village, irrigated by a Persian wheel, and of five matting screens for the erection of a flower porch is recorded (I. 26). The grant is signed by Madhava and countersigned by the Vidagdha (I. 27) of the first grant.

The names of the warlike Chahamanas eulogized in this grant are not known from any other record. It was probably a local dynasty of the Chahamanas which had entered into a subordinate alliance with king Bhoja-Deva I. and helped him in his wars, thus giving the overlord 'great pleasure.' Indra-raja built a temple to the sun-god (Indraditya-deva) and applied to the governor of Ujjain, appointed by his overlord, the king of Kanauj, evidently Mahendra-pala II. of the first grant, for an endowment for its upkeep. The grant is not dated; but we find from the third grant that the temple of Indraditya-deva was existing and was well-known after the name of the builder (1. 28) four years before the date of the first grant. We thus have reason to suppose that the request of the builder to the provincial representative of his overlord to secure a permanent endowment for it must have immediately followed its erection and preceded the gift of Bhartri-patta recorded in the grant following. Thus this grant is evidently prior to the third, and is consequently the first, though not by many years, as is evident from the signature of the same governor, Vidagdha, affixed to both the grants. The custom of provincial governors countersigning grants issued by subordinate chiefs relating to lands in their (the governors') jurisdiction is borne out by the evidence of the Una plate of the time of Mahendra-pala I. of Kanauj, where Dhika countersigned

a grant of Bala-varman, a feudatory of the king (Ep. Ind, Vol. IX, P. 6).

MANDAPIKA is Mandu, where another officer SRI-SARMAN, appointed by the king's commander-in-chief, resided. DHARA-PADRAKA is probably Dharyavad (in Mewar), situated near the boundary of the PARTABGARH State. The matting screens referred to were to be used, evidently, in the periodical festivals in which the throne of the deity is placed in a porch of flowers and leaves temporarily erected over it.

PART III.

This grant records that Maharajadhiraja BHARTRI-PATTA, son of KHOMMANA, enjoins his descendants to maintain in perpetuity, and not to maintain in perpetuity, and not to interfere with, the enjoyment of the bestowal of a field named VAVVULIKA (Babbulika) by the side of the river NANDYA in the village of PALASA-KUPIKA, made by him upon INDRARAJADITYA--DEVA of GHONTA-VARSHI for increase of merit to himself and his parents (II. 27-30). The boundaries of the field are defined (II. 28-29), and a customary verse extolling the donor and the donee follows (II. 31-32). The DATE is given as 'The first day of the bright half of the month of Sravana in the Samvat year 999 (A. D. 942).

Bhartri-patta of this inscription is Bhartri-patta[1] II., son of Khommana III. of Mewar, belonging to the Guhila family. Another inscription of his reign is dated Samvat 1000 (A. D. 943).[2] Palasa-kupika is probably the present Parasia, about

---

1 Ind. Ant., Vol. XXXX p. 191.

2 Annual Report on the working of the Rajputana Museum, Ajmer, 1914 p. 2.

15 miles south of Mandasor. The river Nandya and the village of Varaha-palli, mentioned in the boundaries, cannot be identified at present.

PART IV.

This part records minor grants:—

I. The gift of a field named CHHITTULLAKA in which 10 MANIS of seed could be sown,and which was irrigated by one leather bucket, in favour of INDRADITYA-DEVA by DEVA-RAJA son of CHAMUNDA-RAJA (1. 31).

II. The gift of a field, calld UMDIYAKA, with boundaries defined, in favour of TRAILOKYA-MOHANA-DEVA in the grounds of Indraditya-deva, by INDRA-RAJA (II. 32-33).

III. The [permanent] endowment of one Palika [of oil] per oil-mill, five bundles of foliage, 100 garlands of four strings, ON THE NINTH DAY OF THE BRIGHT HALF OF THE MONTH OF CHAITRA, together with two palas of saffron and one [pala] of betel-nuts from the trading community in the month of CHAITRA. in favour of the VATA- YAKSHINI DEVI (II. 33-34).

IV The gift of DHADIVAHA field, in which 10 Manis of seed could be sown, and of MOCHCHA field, to the north-east of GHONTA-VARSHI, requiring 10 Manis of seed, from persons not mentioned and in favour of deities not specified (1. 34).

Then follows the usual verse extolling the giver of land and condemning the usurper (1.35),after which the name of the ENGRAVER of the inscription is given as SIDDHAPA, son of [SA]TYA and the DATE AS SAMVAT 1003 (A. D. 946).

Deva-raja, son of Chamunda-raja (1. 31) appears to be a scion of the Chahamana family mentioned in the second

grant, and INDRA-RAJA (1. 32) is the builder of the temple of the sun (II. 18-19) himself.

TEXT[1]

[Metres: v. 1, Anushtubh (Sloka); v. 2, Mandakranta; v. 3, Sardulavikridita; v. 4, Vasantatilaka; v. 5, Sardulavikridita; v. 6, Vasantatilaka; v. 7, Anushtubh Sloka); v. 8, Sardulavikridita; v. 9, Vasantatilaka; v. 10, Sardulavikridita (half); vv. 11 and 12, Anushtubh (Sloka).]

L. 1 — — — — [म]: ॥

भवंतु[2] भव[तां भानो]र्भूतये भानवः सदा ॥[3]

प्रातर्न्नभ[स्त]रोस्ताम्राः पवित्राः पल्लवा इव ।०॥ [१*]

[4]ब्रह्मादीनां नियमितद्धियां[5] [स्तोत्र]पात्रं यदेकं ।[6]

यस्मिन्नेताः पुनरपि दिशो ।[7]

2 — — — — — — — [।*]

[सूर्याया?]ण्यं प्रतिदिनमहो ध्यायते यन्मुनीन्द्रैः

[8]तेजस्तद्वो हरतु दुरितं पावनं सप्तसप्तेः ।०। [॥२*]

[रुद्रे] विद्रवति द्रुतं सुरपतौ प[स्त्यं] प्रति प्रस्थिते ।[9]

वित्तेशे प्रतिपन्नरायि [त]-

3 — — — — [शार्ङ्गे] सति [।*]

वैकुण्ठे मतिकुण्ठतामुपगते [10]ब्रा[ह्मयं श्रि]ते [11]ब्रह्मणि ।[12]

पायाद्वो महिषासुरं सुररिपुं देवी दृशा निघ्नतो ॥०। [।३*]

वर्णद्वयाभ्यसनमम्ब[13] तवेदमेव

दुर्गेति नाकगमनाय

---

1 From impressions prepared by the writer and from the stone itself.

2 Read भवन्तु.

3 One stroke is redundant.

4 Read ब्रह्मा°.

5 Read °धियां.

6 This stroke is redundant.

7 This stroke is redundant.

8 Read °नीन्द्रैस्ते°.

9 This stroke is redundant.

10 Read ब्रा.

11 Read ब्र.

12 This stroke is redundant.

13 Read °म्ब.

4 — — — — [न्ति] ।

कात्यायिनीति वरदेति च सन्ति कस्याः[1]
नामाक्षराणि परमाणि यथा भवत्या[2] ।०। [।४*]

ओं[3] स्वस्ति । श्रीमहोदयसमावासितानेकनौहस्त्यश्वरथपत्तिसम्पन्न-स्कन्धावारात्प-

5 [[4]— — [वै]ष्णवो महाराजश्रीदेवशक्तिदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यात[5]
श्रीभूयिकादेव्यामुत्पन्न[6] परममाहेश्वरो महाराजश्रीवत्सराजदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यात[7] श्री-

6 [[8]— न्दरीदेव्यामुत्पन्नः परं[9]

भगवतीभक्तो महाराजश्रीनागभटदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातः श्रीमदीसटादेव्यामुत्पन्नः
परमादित्यभक्तो महाराजश्रीरामभद्र-

7 [दे]वस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्या[तः] श्रीमदप्पादेव्यामुत्पन्नः परम्भगवतीभक्तो महाराजश्रीभोज-
देवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातः श्रीचन्द्रभट्टारिकादेव्यामुत्पन्नः परं

8 भगवतीभक्तो महाराजश्रीमहेन्द्रपालदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातः श्रीमहादेवीदेव्यामुत्पन्नः परमा-
दित्यभक्तो महाराजश्रीविनायकपालदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पा-

9 दानुध्यातः श्रीदेव[धा][10] । द्धि ?]नामनिजकुलप्रसाधनादेव्यामुत्पन्नः परममाहेश्वरो महाराज-
श्रीमहेन्द्रपालदेवः श्रीदशपुरपश्चिमपथके तलवर्गिकहरिपडभुज्य-

---

1 Read °स्या.
2 Read त्याः.
3 Expressed by a symbol.
4 Read °रमवै°.
5 Read तः.
6 Read न्नः.
7 Read तः.
8 Read श्रीसुन्दरी°.

9 In most of the grants and seals of the Pratihara kings of Mahodaya the adverb *param* (or *param-*) is persistently used before *Bhagavati-bhaktah* in place of the adjective *parama*—which is used before the names of other deities, and there appears to be no need of correcting it to *parama*.

10 The word is indistinct; it may also be read as देवव्याद्धि, देवद्वाद्धि देवद्वार्द्धि or देवपाद्धि.

10 मानखर्प्परपद्रकग्रामे घोएटावर्षिकाप्रत्यासन्ने समुपगतान् सर्व्वान्ने[1] यथास्थाननियुक्तान्प्रतिवासिनश्च समाज्ञापयत्यस्तु वः[2] उपरिलिखितग्रामः स्वसीमातृणप्रति-[3]

11 गोचरपर्यन्तो[4] सर्व्वादायसमेत आचन्द्रार्क्कक्षितिकालं पूर्व्वदत्तदेवब्र[5]ह्मादेयवर्ज्जितो मया पित्रोः पुन्या[6]भिवृद्धये का[हि]क्यां गंगायां स्नात्वा पुन्ये[17]हनि[धन]शूरप्रार्थनया श्री-

12 दशपुरचातुर्व्वेद्यहरिषेश्वर[8]मठसंव[9]ध्यमानश्रीवटयक्षिणदेव्यै शासनत्वेन प्रतिपादितः[10] मत्वा भवद्भिः सा[11]नुमन्तव्यो[12] प्रतिवासिजनपदैरप्याज्ञाश्र[13]वणविधेयैर्भूत्वा यथा-

13 दीयमानभागभोगकरहिरन्या[14]दिकमस्योपनेतव्यमिति [। *] श्रीजज्जनागप्रदत्तादेशात् । संवत्सो[15] २०००[16] १००३ मार्ग्ग वदि ५ [।*] पुरोहितत्रिविक्रमताच[17]लिखितमिदम् । स्व-

14. हस्तोयं श्रीविदग्धस्य ।०।

यो राज्ञामुपरि स्थितः[18] वसुमतीर[त्ना]र्थमुत्पादितः[19]

---

1 Read सर्वानेव.

2 Supply संविदितम् or सुविदितम्

3 Read °पूति°.

4 Read °पर्यन्तः.

5 Read ब्र.

6 Read ण्या.

7 Read ण्ये.

8 Read °हर्य्षीश्वर° (हरि+ऋषी°)

9 Read ब.

10 Read त° इति म°.

11 Read स.

12 Read व्यः.

13 Read श्र.

14 Read ण्या.

15 Read संवत्सरे. Here *samvatsaro* stands for *samvatsare* and is followed by *sam* (=100); but in the copper plates of other kings of Mahodaya (Ind. Ant., Vol. XV, pp. 112 and 140; and Ep. Ind., Vol. V, p. 209) *sro* itself represents 100, as it is not followed by the symbol for 100.

16 The symbol *sam* is used to represent 100 and *lri* to denote 10. Thus *sam lri* means 100 × 10=1000. In the inscriptions of the 9th and 10th centuries, the symbol for 3 being the same as the numerical figure, it has been purposely omitted with the symbols to avoid the ambiguity of the date in figures being read as 31003. Hence the figure for 3 has been inscribed only at the end.

17 Read °त्रिविक्रमनाथ°.

18 Read तो.

19 Read तो.

येनोच्चैः सुखमासितं क्षितिभृता श्रीमोज्जदेवेन च [।*]
यस्माद्वि[1]ष्यति विद्विषः किमपरं यस्माच्च
15 लक्ष्मीर्न्नृणां ।[2]
सोयं राजति राजचक्रनिलय[ः] श्रीचाहमानांन्वयः[3] [॥५*]
गोविन्दराज इति तत्र [4]वभूव भूपो ।[5]
राकाशशाङ्ककिरणोत्करशुभ्रकीर्तिः [।*]
येन प्र[च]ण्डभुजदण्डतरण्डकेन ।[6]
ग्रोता-[7]
16 रिता समरसागरतो जयश्रीः [॥६*]
यस्य पीनवृ[8]हद्बाहुभुजपञ्जरमध्यगाः [।*]
विपक्षाः संकुचत्पक्षाः पतत्रिण इवाभवन् ॥[७*]
लि[9]क्ष्म्यालिंगितविग्रहो हरिरिव क्रोधाग्निदग्धाहितः
17 सर्व्वे[षां] च शरन्य[10]तामुपगतो भास्वत्प्रतापोदयः [।*
श्रीमद्दुर्ल्लभरा[ज]नामनृपति ।[11] तस्मादभूदंगजो
वक्रं येन कृतं नचार्थिनि जने वक्तुं द्विषीवा[य]ति ॥ [८*]
तस्मादनेकसमराज्जि-
18 तकीर्त्तिकोशः
चिं[12]तामणिः प्रणयिनां प्रणतो द्विज[13]तेः [।*]
यो योषितां तनुभरोभिनवो मनोभूः
भू[14]पा भुवः समभव[त्सु]त इन्द्[15]राजः ॥ [९*]
तेनाकारि हिमाचलेन्द्रशदृशं[16] भासां

---

1 Read विद्

2 This stroke is redundant.

3 Read नान्वयः.

4 Read ब.

5 This stroke is redundant.

6 This stroke is redundant.

7 Read त्ता.

8 Read हृ.

9 Read ल.

10 Read ण्य.

11 Read °नृपतिस्तस्मा°.This stroke is redundant.

12 Read °कोशश्चि.

13 Read जा.

14 Read मनोभूर्भू.

15 Read न्द्र.

16 Read °सदृशं.

19 श्रमोर्माहुरं

धामेदं ध्वजकिङ्किणीकलमिलत्कोलाहल[1]लंकृतं ॥ [१०*]

स्वस्ति श्रीमदुज्जयन्यां[2] महासामन्तदण्डनायकश्रीमाधवः ॥ तथा मण्डपिकायां परमेश्वरपादोपजीविव[3]लाधी[4]कृ-

20 तश्रीकोक्कटनियुक्तश्रीशम्मे[5] च व्यापारं कुर्व्वंते[6] इत्यस्मिन् काले वर्त्तमाने इहैव श्रीमदुज्जयन्यायां[7] कार्याभ्यागततंत्र[8]पालमहासामन्तमहादण्डनायकश्रीमाधवेनः[9] श्री-

21 दामोदरसुतेन[10] ।[11] चाहमानान्वयमहासामन्तश्रीइन्द्रराज[12] ।[13] श्रीदुर्ल्लभंराजसुतस्य प्रार्थनयाः[14]। श्रीविदग्धभोगान्तःपातिधारापद्रकग्रामे समुपगतान् सर्व्वराजपुरुषान् [15]ब्राह्म-

22 णोत्तरीयान् प्रतिनिवासी[16]जनपदांश्च वो[17]धयत्यस्तु वस्संविदितं श्रीमहाकालदेवायतने सुस्नात्वा महादेवमभ्यर्च्च्य मातापित्रोरात्मनश्च सुपुण्यकर्म्मयशोभिवृद्धये ।[18] परलोकहि-

23 ताय जलचन्द्रचपलजीवितं ते[त्य][19] ।[20] तृणदष्टनष्टसंपदा[21] समन[22]चिन्त्य[23] । मीनसंक्रन्तौ[24] श्रीनित्यप्रमुदितदेवप्रति[व[25]द्ध]बोंटावर्पीकस्थाने श्रीमदिन्द्रादित्यदेवस्य खण्डस्फुटितसमार-

---

1 Read लालं.

2 Read °यिन्यां.

3 Read ब.

4 Read धि.

5 Read °शर्म्मणि च (or °शर्म्मा च).

6 Read कुर्व्वति (or कुर्व्वाते).

[8] Read तन्त्र°.

7 Read °यिन्यां.

9 Read न Correct to °माधवः.

10 Correct to °सुतः.

11 This stroke is redundant.

12 Read °राजस्य.

13 This stroke is redundant.

14 Read या.The stroke is redundant.

15 Read ब्रा.

16 Read सि.

17 Read बो.

18 This stroke is redundant.

19 Read °लं जीवितमवेत्य.

20 This stoke is redundant.

21 Read °नष्टाः संपदः

22 Raad नु.

23 Read °चिन्त्य. The stroke is redundant.

24 Read °संक्रान्तौ

25 Read ब.

24 चनाय व[1]लिचरुशत्र[2]प्रवर्त्तनाय ।[3] ग्रामोयं स्वसीमापर्यन्तं[4] सवृत्तमाला[कु]लं[5] सकाष्ट[6] तृणगोपचारं[7] सजलस्थलसमेतं ।[8] चतुष्कंकट[9] विशुद्ध[10] भागभोगकरहिरण्या[11] दिस्कंध-

25 कमा[र्ग]णकादिराजमाव्यैस्सहितं[12] उदकपूर्व्वकेन शासनेन प्रदत्तं[13] ॥ मत्वै-
तदस्मद्वङ्स[14]जैरन्यैश्च धर्म्मिदमनुपालनीयं[15] । प्रतिनिवासी[16] जनपदैश्चाज्ञाश्र-
वणविधेयैर्भूत्वा

26 यथा दीयमानं च दातव्यं । अपरं [चै]तस्मिन्नेव ग्रामे उत्तन्तो [दिग्भा]गे साधारं
कच्छ[क]नाम अरहट्टेन तु संयुतं दत्तं । पुनः पत्रमण्डपक्किटिकाः पण्च[17]
शासनेन प्रदत्ताः ॥ स्वह-

27 स्तोयं श्रीमाधवस्य । स्वहस्तोयं श्रीविदग्धस्य ॥
संवत् ६६६ श्रावण सुदि ९ समस्त[रा]जावलिपूर्व्वमग्रेह[18] महाराजाधिराजश्रीम[19]तृ्पट्टः[20]
श्रीवोम्माणसुतः[21] स्वमातृपित्रोरात्मनश्च ध-

28 र्म्माभिवृद्धये घोण्टावर्षेन्द्रराजादित्यदेवाय ।[22] पलासकूपिकाग्रामे वंव्वूलिके न्नाम[23]
कच्छ[24] । अस्य चाघाटानि लिख्यंते[25] पूर्व्वस्यां दिशि स्वर्गपालो दक्षिणस्यां दिशि च
पलासकूपिका-

---

1 Read व.

2 Read °सत्र°.

3 This stroke is redundant.

4 Read न्तः.

5 Read लः.

6 Read ष्ठ.

7 Read °प्रचारः.

8 Read °समेतः. The stroke is redundant.

9 Read °ष्कंटक°.

10 Read द्धः.

11 Read ण्या.

12 Read तः.

13 Read त्तः.

14 Read °द्वंश°.

15 Read धर्मोयमनुपालनीयः.

16 Read सि.

17 Read ञ्च.

18 Read °मग्रह (if not °मग्र इह.

19 This syllable is written below the line,

20 भर्तृभट is also found in some Mewar inscription.

21 Supply a verb, e. g. समाज्ञापयति.

22 This stoke is redundant.

23 Read नाम.

24 Read च्छः. The next stoke is redundant.

25 Read लिख्यन्ते (also in line 32)

29. क्षेत्रांतरितं वराहपल्लिग्रामवर्त्म । पश्चिमस्यां दिशि सीमायां क्षेत्राणि । उत्तरयां दिशि नन्यानदीसमीपवर्त्तिनी च(?)मेत्रा[1]घाटानै स[2]हायं वंन्तूलियको नाम कच्छो अस्माभिः[3] प्रदत्ती मत्वा[4]स्म-

30 त्पुत्रपौत्रादिकैरयं च मा[5]चन्द्रार्क्कक्षित्युदधिसमकालं पालनी[6] एतदीयरतिपरिपंथना न केनापि कर्त्तव्याः[7] ।७।

भूमिं यः प्रतिगृह्णाति[8] यश्च भूमि[9] प्रयच्छति [।*]
द्वावेतौ पुण्यकर्म्माणौ

31 नियतौ स्वर्ग्गगानौ[10] [॥११*]

श्रीदेवराजेन श्रीचामुण्डराजसुतः[11] श्रीमदिन्द्रादित्यदेवस्य कोसत्राहे छितुल्लाकक्षेत्रं माणिमाप १० शासनेन प्रदत्तं ॥ श्रीमदिन्द्रादित्यदेवजगत्यां । त्रै-

32 लोक्यमोहनदेवस्य श्रीमदिन्द्रराजेन उंडिआकक्षेत्रं [12]आघाटा लि[13]ख्यंते दक्षिणतः सा[धार]वहं पश्चिमत[14] राजवर्त्मनी उत्तरपूर्व्वतः भ्रा[15]ह्मणकेशवादित्यस्य क्षेत्रं । एवं चतुराघा-

33 टोपलक्षितं[16] शासनेन प्रदत्तं ॥ श्रीवटयक्षिणी [17]घाणापलिका १ पत्रमण्डप[पालिका]-५ महानवम्यां चैत्रे पुष्पचौसरा शत्[18] १०० वणिवर्गेन[19] कुंकुम[20]पल २ पु[21]ग १ चैत्रे निचे-

---

1 Read इतिमात्रा°.
2 Read घाटैः स°.
3 Read कच्छोस्माभिः.
4 Read प्रदत्त इति मत्वा°.
5 Read °स्यमा°.
6 Read पालनीय ए°.
7 Read कर्तव्या.
8 Read °गृह्णाति.
9 Read मिं.
10 Rerd °गामिनौ.
11 Read °सुतेन.
12 Add अस्य.
13 Read लिख्यन्ते.
14 Read तो.
15 Read ब्रा.
16 This stoke is redundant.
17 Read यथै.
18 Read तं.
19 Read वणिग्वर्गेण.
20 Read कुङ्कुम°
21 Read पूग.

34 दनीया[1] ॥ ० ॥ धाडिवाड़ा क्षेत्रं माणिवाप ६ लौंडामिवय[मोज्यै ?] दातव्य[2] मास वि०५ घोएटावर्पिपूर्व्वोत्तरतः मोच्चक्षेत्रं माणिवाप १० षष्ठी[3]वरिष[4]सहस्त्राणि स्वर्गे ति[ष्ठ]ति भूमिदः [।*]

35 आच्छेता[5] चानुमन्ता च्च[6] तान्येव नरकं [व्रमेत्] [॥१२*] [स]ःयमुत सिद्धपेन इयं प्रशस्ती उ[7]त्कीर्णमिति[8] ॥ संवत् १००३ [॥*]

---

1 Read निवेदनीयानि.

2 Read व्यं.

3 Read ष्टि.

4 Read °वर्ष°.

5 Read त्ता.

6 Read च.

7 Read प्रशस्तिरु°.

8 Read °र्णेति.

ए. इ; जि० १४, पृ० १७६–८३

2 THE DEATH OF SINDHURAJA

AMONG the Paramara rulers of Malwa, the names and chief events of the reigns of Vakpatiraja (Munja), Sindhuraja and the illustrious Bhojadeva are well-known to historians and Sanskritists. But how Sindhuraja, otherwise known as Sindhula (or Navasahasanka), met his end is still unsolved by scholars. In stone-inscriptions, copper-plate grants and Sanskrit works relating to the history of the Paramaras of Mālava, no reference to Sindhuraja's death has been made. Lack of information on this point can be accounted for by the tendency generally noticed, that when a ruler of a certain dynasty was victorious in war or died like a hero in the battle-field or there was anything extraordinary about him, the event was recorded with exaggeration by the chroniclers of that line of kings. On the other hand, State-chroniclers and writers of *Prasastis* (panegyrics) distorted or suppressed facts, if their patron king had been vanquished, slain, or met an ignominious death after capture by the enemy. But the enemy's historians described the same events in hyperbolyical terms. In such accounts a critical student of history can find the grain of truth only after eliminating the margin of hyperbole.

Now, taking into consideration the modern historical works, we note that in the long Appendix C on the history of the Paramaras of Dhar and Malwa by Captain C. E. Luard and Pandit K. K. Lele appended to the *Dhar State Gazetteer*[1] and

1 Published in 1908. Appendix C on pp. 129-81.

even in Dr. Hem Chandra Ray's *Dynastic History of Northern India*, Vol. II; published some months ago, no comment has been made on the death of Sindhuraja in the account of Malwa Paramaras.

In his *Kumarapalacharita*, composed in 1365 A. D; Jayasimhasuri records that Chamundaraja, the Chaulukya king of Gujarat (996-1010 A. D.) made powerful by the boon of the goddess Chamunda, killed in battle Sindhuraja, who resembled an intoxicated lord of elephants[1]. In the original verse, quoted in the foot- note, the word 'Sindhuraja, can be construed in two senses: (1) a king of Sindh and (2) a king named Sindhuraja. Now, let us decide which interpretation is more plausible.

In the Vadnagara *Prasasti* of the reign of Chaulukya Kumara-pala (dated V. S. 1208, *i. e.*, 1151 A. D.) which is an earlier record than the *Kumarapalacharita*, referred to above, we come across the following verse (sixth) :—

सूनुस्तस्य बभूव भूपतिलकश्चामुंडराजाह्वयो
यद्गंधद्विपदानगंधपवनाघ्राणेन दूरादपि ।
विभ्रस्यन्मदगंधभग्नकरिभिः श्रीसिन्धुराजस्तथा
नष्टः क्षोणिपतिर्यथास्य यशसां गंधोपि निर्नाशितः॥

Epigraphia Indica, Vol. I, p. 297.

That is, his (Mularaja's) son was that ornament among kings called Chamundaraja. Inhaling even from a far the breeze perfumed with the ichor of his (*i. e.*, Chamundaraja's) 'scent-elephants' (*i. e.*, elephants of the best kind). the illustrious king (ksonipatih) Sindhuraja was destroyed (nastah) with his elephants cowed by the smell of their opponents' rut, and disappeared in such a way that all trace of his (*i. e.*, Sindhuraja's) fame was lost.

---

1 रेजे चामुंडराजोऽथ यश्चामुंडवरोद्धुरः ।
सिन्धुरेन्द्रमिवोन्मत्तं सिन्धुराजं मृधेऽवधीत् ॥ I. 31.

In this verse 'nastah' denotes (i) lost or vanished and (ii) perished or destroyed; but in view of the unequivocal statement of the *Kumarapalacharita*, describing the death of Sindhuraja at the hands of Chamundaraja, the second interpretation is no doubt preferable to the first. Here, 'Sindhuraja, with its adjective 'ksonipatih' (king, lit. lord of earth), doubtless, refers to 'a king named Sindhuraja', and not to 'a king of Sindh', which interpretation could be tenable only if the abjective 'ksonipatih' were not applied to 'Sindhuraja'. 'Ksonipatih' with its qualified noun 'Sindhuraja' cannot Signify 'a king of Sindh' ('Sindhu-king'[1]), as translated erroneously by Mr. Vajeshankar. G. Ojha and Dr. G. Buhler, the editors of the *Prasasti*. In their introductory remarks it is stated: "Verse 6 speaks of a successful war waged by Chamunda against a king of Sindh. This point is not mentioned in any other document, but is not incredible, as Sindh formed the western border of the Chaulukya kingdom[2]." But in *Errata and Corrigenda* of Vol. I of the *Epigraphia Indica*, the learned editor of the journal has remarked: "*for*—against the King of Sindh...rulers. *read*—against Sindhuraja, *i. e.*,—possibly the king of Sindh, but more probably Sindhuraja of Malva.[3]" Moreover it is to be noted that the editors of the Vadnagara *prasasti* have also made in foot-note the unwarranted change of 'ksonipatih' of the original text into its genitive 'ksonipatih[4]', connecting it with the pronominal form 'asya' and construing the text thus: "Sindhu-king fled together with his now elephants.........and vanished in such wise that even trace of the fame of that prince (asya ksonipateh) was lost[5]". It is,

---

1 Ep. Indica, I. p. 302.

2 Ibid. p. 294.

3 Ibid. p. 481.

4 Ibid. p. 297. note 8.

5 Ibid. p. 302. Words in bracket are mine.

doubtless, evident that the unnecessary twisting of the originally correct text of the *prasasti* is due to the editors' attempt at fitting in the sense of the 'Sindhu-king' and betrays their error in ignoring the rule of the concord of the adjective and noun. It is, therefore, established beyond doubt that, according to the Vadnagara *prasasti* of Kumara-pala, Chamundaraja killed king Sindhuraja of Malava and not a king of Sindh[1]. Except the Paramara king Sindhuraja of Malava, no other namesake of his was contemporary of king Chamundaraja of Gujarat.

It may be questioned that as the verse from the *Kumarapalacharita* quoted above, does not contain any adjective of 'Sindhuraja', how is it possible to regard this Sindhuraja as indentical with the 'Ksonipatih Sindhurajah' of the Vadnagar *Prasasti.* ? In this connection we must not lose sight of the fact that the *Kumarapalacharita*, was composed later than the Vadnagar *prasastis*. The war between Chamundaraja and Sindhuraja must have already become an event of importance, otherwise, it should not have been mentioned in the Vadnagar record. Therefore a reference to that event could not be possibly passed over by the biographer of the illustrious Chaulukya Kumarapala while describing his ancestors, Chamundaraja and others.

---

1 In his account of the reign of Chaulukya Chamundaraja, Dr. Ray has quoted Ojha and Buhler's translation of the above verse of the Vadnagar *prasasti* with the slight variation of 'Sindhu-king' in the original into 'Sindhuraja of course according to the Errata and Corrigenda (*Dynastic History of Northern India*, Vol. II. P. 946, note 5). In agreement with the editors of the *prasasti*, he thinks that Sindhuraja refers to 'a king of Sindh' but on cogent reasons have been advanced by him to justify his view Ibid., (P. 946).

The two texts, discussed above, make no reference to the date of the battle between Chamundaraja and Sindhuraja. But it is definitely known that Vakpatiraja (Munja) was succeeded by his brother Sindhuraja. Vakpati was alive in 1050 V. S. (993 A.D.) when Amitagati, a Jain author of no mean repute, composed his *Subhasitaratnasundoha*. Sometime later than 993 A. D. Munja was defeated and killed by king Tailapa of Kalyan, who died in 997 A. D. The death of Munja must, therefore, be assigned to some date between 993 and 997 A. D. Moreover, we know that Chamundaraja of Gujarat, who defeated and killed Sindhuraja, reigned for fourteen years from 996 to 1010 A. D. Thus it appears thet Sindhuraja must have met his end during this period. The death of Sindhuraja was immediately followed by Bhojadeva's accesion to throne, which took place according to historians, in 1010 A. D. It can, therefore, be pointed out with a near approach to accuracy that in 1010 A. D. Sindhuraja was killed by Chamundaraja, an event which possibly gave rise to hereditary hostilities between the Paramaras of Dhara and Chaulukyas of Anahilavada.

Harbilas Sarda; Commemoration Vol.

THE NANANA GRANT OF CHAULUKYA KING KUMARA-PALADEVA OF GUJARAT DATED VIKRAMA SAMVAT 1212.

The grant was found while digging the foundation of a house at the village called Nanana, about three miles from Bhagvanpura railway station on the B. B. & C. I. Ry. On hearing about its discovery, I secured it through a friend of mine for examination and subsequently published its summary in my Annual Report on the working of the Rajputana Museum, Ajmer, for the year ending 31st March 1937, p.p. 3-4.

The grant consists of two copper-plates, which are inscribed on one side only. The measurement of each plate is 12″ by 9½.″ Their edges are slightly turned up so as to form raised rims to preserve the writing. Two ring-holes at the bottom of the first and the top of the second plate show that they were originally held by two rings, which are now missing. Each plate contains 16 lines of writing. The letters are engraved deeply and their average size is about four-tenths of an inch. The plates are in a fairly good condition and the writing is legible throughout.

The language of the inscription is *Sanskrit* and the characters are *Nagari*. Except the five verses at the end (II. 22-29), which are benedictory and imprecatory, the rest of the record is in prose. As regards *orthography* the letter ब is throughout denoted by the sign for व. A consonant following र् is mostly

doubled, e. g. श्रीकर्ण्णदेव (I. 5), चक्रवर्त्ति (I. 7), विनिर्ज्जित (I. 8), स्वर्ग्गे (I. 22), गर्त्त° (I. 26), etc. Rules of *Sandhi* are observed in all places. The sign of *avgraha* has been used only thrice, e. g. ऽस्यां (I. 13), ऽस्मद्वंशजै° (I. 20) and दूतकोऽत्र (I. 31). The sign of *anusvara* is mostly used, e. g. चामुंड (I. 3.), रणांगण (I. 8.), शाकंभरी (I. 8), मंडल (I. 9) etc; while at some places the *nasal* is also employed, e. g. अवन्ती (I. 6), and मंडलान्त: (I. 9). *Prsthamatrkas* have been mostly used, but at places we also come across ordinary *matras*. e. g. पुण्ययशो° (I. 16), नाड्ले (I. 18), चैतत् (I. 20) and वंशजै° (I. 20). इ *is written in its old form* (⁚) at two places, e. g. इह (I. 25) and इति (I. 31). The language of the inscription is quite correct and a few mistakes which occur in it are mostly due to the engraver.

The grant refers to the reign of *Paramabhattaraka-Maharajadhiraja-Paramesvara* Sri Kumarapaladava and gives the following genealogy of the Chaulukya kings of Gujarat :—

1 Paramabhattaraka – Maharajadhiraja – Paramesvara Sri Mularajadeva.

2 P. M. P. Sri Chamundarajadeva.

3 „ Sri Durlabharajadeva.

4 „ Sri Bhimadeva.

5 „ Sri Karnadeva alias Trailokyamalla.

6 „ Sri Jayasimhadeva alias Avantinatha, Tribhuvanaganda, Barbarakajisnu (i. e. conqueror of Barbaraka) and Siddhachakravrti (Siddharaja).

7 „ Sri Kumarapaladeva, conqueror of Sakambhari

The record mentions that the last named king (Sri Kumara-paladava) granted one *dramma* per day from the customs-house of Nadula (Nadol), on the occasion of the

lunar eclipse, to the temple of Lakhanesvara built by Lakhanadevi, daughter of the exalted Naduliya (of Nadol) Cahuvana (Chauhan) family of Kuntapala and situated within the precincts of the temple of Tripurusadeva.

The grant was issued from Anahilapataka and is dated Monday, the fifth day of the bright half of Sravana (Kartikadi), Vikrama Samvat 1212, corresponding to the 24th July 1156 A. D. The day is irregular as the Caitradi Sravana Sudi 5 fell on Wednesday, while it was Tuesday on the same date of the Kartikadi Sravana.

The grant was written by Mahadeva, son of Laksmana of the Gauda Kayastha family, the Maha-Aksa-Patalika (the Chief Registrar). The *dutaka* is Maha-Sandhivigrahika (the Minister of Peace and War) Sri Delana. The second plate bears at the end the name of Sri Kumarapaladeva (written by the writer).

Of the places mentioned in the grant, Nadula is the present Nadol in the Godavada district of the Jodhpur State and Anahilapataka (Anahilavada) is the present Patana in the territory of His Highness the Gaekwad of Baroda.

Plate I

(1) ओं [1]स्वस्ति राजावलीपूर्व्ववत् समस्तराजावलीविराजितपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्व-

(2) रश्रीमूलराजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीचा-॥[2]

(3) मुंडराजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीदुर्ल्लभ-

---

1 Indicated by a symbol.

2 This sign of punctuation is superfluous.

(4) राजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीभीमदेवपादानु-

(5) ध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीत्रैलोक्यमल्लश्रीकर्णदेवपादा-

(6) नुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरावन्तीनाथत्रिभुवनगंड-

(7) वर्व्वरक[1]जिष्णुसिद्ध[2]चक्रवर्तिश्रीजयसिंहदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहा-

(8) राजाधिराजपरमेश्वरनिजभुजविक्रमरणांगणविनिर्ज्जितशाकंभरीभूपा-

(9) लश्रीमत्कुमारपालदेवः स्वभुज्यमाननाड्डूलमंडलान्तःपाविनः[3] समस्तराजपु-

(10) रुषान[4] ब्राह्मणो[5]त्तरांस्तन्नियुक्ताधिकारिणो जनपदांश्च वोधयत्य[6]स्तु वः संविदि

(11) तं यथा । श्रीमद्विक्रमादित्योत्पादितसंवत्सरशतेषु[7] द्वादशसु द्वादशाधिकेषु

(12) श्राम्वण[8]मासशुक्लपक्षपंचम्यां सोमदिने यत्रांकतोपि संवत् १२१२ वर्षे श्रावण-

(13) शुदी ५ सोमेऽस्यां संवत्सरमासपक्षवारपूर्विकायां तिथावद्येह श्रीमदणहि-

(14) लपाटके सोमग्रहणपर्वणि स्नात्वा चराचरगुरुं भगवन्तं भवानीपतिमभ्यर्च्य

(15) संसारासारतां विचिंत्य नलिनीदलगतजललवतरलतरं प्राणितव्य[9]माक-

(16) लय्यैहिकमामुष्मिकं च फलमंगीकृत्य पित्रोरात्मनश्च पुण्ययशो-

Plate II

(17) भिवृद्धये ।[10] नाड्डूलतले संतिष्ठमानशुल्कमंडपिकायां नाड्डूलीयचा

---

1 Read बर्ब्बरक°.

2 Read °सिद्ध.

3 Read °पातिनः.

4 Read पुरुषान्.

5 Read ब्राह्मणो°.

6 Read बोधय°.

7 Read शतेषु.

8 Read श्रावण°.

9 Read प्राणितव्य°.

10 This sign of punctuation is superfluous.

(18) हु॰[1] वाण॰[2] कुंतपालकुलपुत्रिकालाखणदेव्या नाडूले संतिष्ठमान

(19) श्रीतृपुरुषदेवजगत्यां[3] कारितश्रीलाखणेश्वरदेवाय दिनं प्रति द्र[4] १ एकः शाः

(20) सनेनोदकपूर्वमस्माभिः प्रदत्तः । सामान्यं चैतत्पुण्यफलं मत्वाऽस्मद्वंशजै-

(21) रन्यैरपि भाविभोक्तृभिरस्मत्प्रदत्तदेवदायोयननुमंतव्यः[5] पालनीयश्च

(22) उक्तं च भगवता व्यासेन । षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे तिष्ठति भूतिदः[6] । आच्छेत्ता

(23) चावमंता च तान्येव नरकं वसेत् । १ [।] यानीह दत्तानि पुरा नरेंद्रै दानानि[7] धर्मा-

(24) र्थयसस्कराणि[8] । निर्माल्यवांतिप्रविमानी[9]तानि को नाम साधुः पुनराददी-

(25) त ॥ २॥[।] इह हि जलदलीलाचंचले जीवलोके तृणलवलवुसारे सर्व-

(26) संसारसौख्ये । अपहरत्तु[10] दुराशः[11] शासनं देवतानां नरकगहनगर्त्तावित्त[12]-

(27) पातोत्सुको यः । ३[।]वहुभिर्वसुधाभुक्ता[13] राजभिः सगरादिभिः । यस्य य-

(28) स्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं ॥४ [।] विंध्याटवीष्वतोयासु शुष्ककोटरवासी-

(29) नः कृष्णसर्पाः प्रजायंते देवदायापहारकाः ॥ ५ [।] लिखितमिदं शासनं गौ-

(30) डकायस्थान्वयप्रसूतनहात्तपटलिक[14] [15]ठ० श्रीलक्ष्मणसुत ठ० श्रीमहादे-

(31) वेन । दूतकोऽत्र महासंधिविग्रहिक[16] ठ० श्रीदेलण इति ॥

(32) श्रीकुमारपालदेवस्य

---

1 This sign of punctuation is superfluous.

2 This sign of punctuation is superfluous.

3 Originally the word श्रीआसलेश्वरदेवजगत्यां were engraved, but all the letters have been struck off by two short slanting strokes at the top of each letter and on the right hand margin श्रीतृ(त्रि)पुरुषदेवजगत्यां is written in the same hand. To denote the alteration two Hamsapadas in the form of crosses (×) have been placed at the beginning as well as at the end of the original and altered words.

4 Read द्रम्म.

5 Read °यमनु°.

6 Read भूमिदः.

7 Read नरेंद्रैदीनानि.

8 Read यशस्कराणि.

9 Read °प्रतिमानि तानि.

10 Read अपहरति.

11 Read दुराशः.

12 Read गर्त्तावर्त्त°.

13 Read बहुभि°

14 Read महाक्षपटलिक.

15 Read ठक्कुर.

16 Read सांधिविग्रहिक.

4 THE AHADA GRANT OF CHAULUKYA BHIMADEVA II, OF GUJARAT (VIKRAMA YEAR 1263).

The inscription described below is incised on tow copper-plates, which are in possession of Brahmana Khima of Ahada, a village about two miles from Udaipur (Rajputana).

Each plate measures 13¼"x11½", the plates are inscribed on one side only. Their edges are slightly turned up, so as to form raised rims to protect the writing. Two ring-holes at the bottom of the first and the top of the second plate show that originally they were held together by two rings, which are now missing. Each plate contains 19 lines of writing. The letters are deeply incised and their average size is ½". The plates are in a fair state of preservation, but some letters have been defaced owing to their remaining underground for many years.

The language of the inscription is Sanskrit. With the exception of six benedictory and imprecatory verses at the end (II. 12-17) the record is written in prose. One provincial vernacular word, सराहा (I. 22) is specially noteworthy. It is not found in Sanskrit lexicons in the sense of 'crop', but सरा stands for crop in the dialect of the people of Udaipur, Sirohi and some other states of Rajputana. In respect of orthography the letter ब is throughout denoted by the sign for व. A consonant following र is generally doubled, e. g. पूर्व्ववत् (I. 1), दुर्ल्लभराज

(I. 3), चक्रवर्त्ति (I. 5), दुर्ज्जय (I. 10), पूर्व्वप्रदत्त (I. 19), मार्ग्गः (I. 24), etc. Rules of Sandhi are not observed in certain places, as in ०परमेश्वर उमापति (I. 6), त्रिषष्टि उत्तरेषु (I. 13), श्री अजयपालदेव (I. 9), तथा अरघट्ट (I. 25), etc. 'व्य' is substituted for 'प्य', e. g. बाहुदंडदर्प्पकन्दर्प (I. 8) कंदर्प्प (I. 8) and कृष्णसर्प्पाः (I. 35). The sign of *avagraha* is met with more than once, e. g. रविवारेऽत्रांकतोपि (I. 14), ०पाटकेऽद्यैव (I. 15), यशोऽभिवृद्धये (I. 17) The sign of *anusvara* is found throughout in preference to nasal, e. g. ०निष्कलंकावतारित० (I. 8), ऽत्रांकतोपि (I. 14), यत्किंचित् (I. 21), त्रिभुवनगंड० (I. 5), वसुंधरां (I. 34), तदा फलं (I. 33), etc. Prsthamatrkas have been used according to writer's fancy.

The grant refers to the reign of Paramabhattaraka-Maharajadhiraja-Paramesvara, the illustrious Bhimadeva (II) alias Abhinavasiddharaja. It records the following genealogy of the Chaulukya kings of Gujarat :—

(1)	Paramabhattaraka Maharajadhiraja Paramesvara	Sri-Mularajadeva (I).
(2)	P. M. P.	Sri-Chamundarajadeva.
(3)	,,	Sri-Durlabharajadeva.
(4)	,,	Sri-Bhimadeva (I).
(5)	,,	Sri-Karnadeva alias Trailokyamalla.
(6)	,,	Sri-Jayasimhadeva, Siddha-Chakravarti (Siddharaja) conqueror of the lord of Avanti, of Tribhuvanaganda and Varvaraka (Barbaraka).
(7)	,,	Sri-Kumarapaladeva, conqueror of the lord of Sakambhari (Sambhar).
(8)	,,	Sri-Ajayapaladeva, who exacted tribute from the ruler of Sapadalaksha country (here it refers to the Kingdom of Ajmer).

(9) " Sri-Mularajadeva (II), the conqueror of the lord of Garjanaka (Ghazni), i. e. Shihabuddin Ghori.

(10) " Sri-Bhimadeva (II), alias Abhinava-siddharaja (Siddharaja II).

The inscription records that the last named king (Bhimadeva II) granted an *araghatta* (a well, with a Persian wheel, together with the land cultivated with its water) called (Vamauva ?) at Ahada in the mandala (province) of Medapata (Mewar), which was under his sway, together with the outside land attached to the well and a field belonging to Kádava to a Brahmana named Ravideva, son of Vihada, belonging to the Rayakavala caste and Krshnatreya-gotra. The boundaries of the above mentioned pieces of land are also given (II. 23-28). The grantee hailed from the village Navati* (modern Nauti in the Udaipur State). He further orders that the ninth part of each crop produced in the land belonging to the well should be given to (the temple of) Bhayalasvamideva at Ahada.

The grant was issued from Anahilapataka (Anahilavada Patana in the territory of, H. H. the Maharaja Gaekwad of Baroda), and is dated Sunday, the second day of the bright half of Sravana (Kartikadi), Vikrama Samvat 1263, corresponding to the 2nd July 1307 A. D.

The grant was written by Tha (Thakkura) Vosari, the son of Tha (Thakkura) [Ka] mara, the Aksha-patalika (Accountant-general). The *dutaka* is Maha-sandhivigrahika Sri-Surai, which corresponds to the modern name Suraji, The second plate bears at the end the sign-manual of Bhimadeva and a mark of a dagger. The inscription goes to prove that the territory of Medapata (Mewar) was under the sway of Bhimadeva (II), as it is clearly stated that it was a *mandala* (I. ii) under his sovereignty.

TEXT.

PLATE I.

(1) ओं[1] स्वस्ति राजावलीपूर्व्ववत् समस्तराजावलीविराजितपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वर-श्रीमूलराज-

(2) देवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीचामुंडराजदेवपादानुध्यात (परमभ) ट्टारकम-

(3) हाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीदुर्ल्लभराजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीभीमदे-

(4) वपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरत्रैलोक्यमल्लश्रीकर्णदेवपादानुध्यातपरमभ-ट्टार-

(5) कमहाराजाधिराजपरमेश्वरावन्तीनाथत्रिभुवनगंडवर्वरकजिष्णुसिद्धचक्रवर्तिश्रीजयसिंहदेवपादा-

(6) नुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरउमापतिवरलव्ध[2]प्रसादप्रौढप्रतापस्वभुजवीर्यरणांगण-

(7) विनिर्जितशाकंभरीभूपालश्रीकुमारपालदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरपरम-

(8) माहेश्वरप्रवल[3]वाहुदंड[4]दर्प्प[5]रूपकंदर्प[6]कलिकालनिष्कलंकावतारितरामराज्यकरदीकृतसपा-

(9) दलक्षमापालश्रीअजयपालदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वराहवप-

(10) राभूतदुर्ज्जयगर्जनकाधिराजश्रीमूलराजदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमे-

(11) श्वराभिनवसिद्धराजश्रीमद्भीमदेवः स्वभुज्यमानमेदपाटमंडलांतः पातिनः समस्तराजपुरुषा-

(12) न् ब्राह्मणोत्तरास्तन्नियुक्तराणकान्[7] जनपदांश्च वोधयत्यस्तु[8] वः संविदितं यथा । श्रीमद्विक्रमा-

(13) दित्योत्पादितसंवत्सरशतेषु द्वादशेषु[9] त्रिषष्ठिउत्तरेषु[10] लौ० श्राम्त्रण[11] (मास) शुक्लपक्षद्वितीयायां

---

1 Indicated by a symbol.

2 Read लब्ध°

3 Read प्रबल°

4 Read बाहुदंड°

5 Read दर्प्प°

6 Read कंदर्प्प°

7 Read ब्राह्मणोत्तरांस्तन्नियुक्त°

8 Read बोधयत्यस्तु

9 Read द्वादशेषु

10 Read त्रिषष्ट्युत्तरेषु

11 Read श्रावण°

(14) रविवारेऽत्रांकतोपि । संवत् १२६३ श्राम्वण[1]शुदि २ रवावस्यां संवत्सरमासपक्षवार(पूर्व्विका)यां

(15) तिथावद्येह श्रीमदणहिलपाटकेऽद्यैव व्यतीपातपर्व्वणि स्नात्वा चराचर(गु) रुं भगवन्तं भवानीप-

(16) तिमभ्यर्च्य संसारासारतां विचिंत्य नलिनीदलगतजललवतरलतरंप्राणितव्यमाकलय्यै (हि)-

(17) कमामुष्मिकं चं फलमंगीकृत्य पित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोऽभिवृद्धये श्रीमदाहाडतलपदे-

(18) ..... (व्र माउवा ?) नामारघट्टस्तत्प्रतिवद्धवा[3] (ह्य) भूमिकडवासत्कक्षेत्रं समं श्रीमदाहाड-मध्ये (अस्य)

(19) (समर्पित) गृहान्वितः पूर्व्वप्रदत्तदेवदायब्रह्मदाय[3]नष्टनिधानसारवृत्ता (स्म) .. ..

PLATE II.

(20) (वर्ज्जश्च नवली) ग्रामवास्त० कृष्णात्रियगोत्रे[4] रायकवालज्ञाती[5]०ब्रा०[6] वीहडसुतरविदेवाय शाशनेनो-

(21) दकपूर्व्वमस्माभिः प्रदत्तः॥ अस्मि (न वमाउवा !) नामारघट्टे सराहाद्वये यत्किंचित् धान्यं समुत्पद्यते

(22) त (स्य समुत्पन्नधान्यस्य) मध्यात् सराहां प्रति नवमविभागः श्रीमदाहाडेस्य श्रीमायलस्वामि-देवा (य अ)-

(23) स्य अरघट्टसत्कगोस्वामिना सदैव दातव्यः । अस्य अरघट्टस्याघाटा यथा । पूर्व्वस्यां दिशि श्री (केशवस्वामि)-

(24) देवबाटिका । तथा श्रीपार्श्वनाथदेवसत्कक्षेत्रं च । दक्षिणस्यां दिशि राजमार्ग्गः । पश्चिमायां दिशि राज-

(25) मार्ग्गः । उत्तरस्यां दिशि श्रीमायलस्वामिदेवक्षेत्रं । तथा अरघट्टप्रतिवद्ध[7]क्षेत्रस्याघाटा यथा । पूर्व्वे-

---

1 Read श्रावण°

2 Read प्रतिबद्धवाह्य°

3 Read ब्रह्मदाय°

4 Read कृष्णात्रेय°

5 Read गोत्राय

6 Read ब्रा० (ब्राह्मण)

7 Read प्रतिबद्ध°

(26) तो राजकुलक्षेत्र । दक्षिणतो रायकवालज्ञाती० ब्रा०[1] सोमेश्वरक्षेत्रं । पश्चिमतो·········सी-

(27) मा । उत्तरतो राजमार्ग्गः । क्षेत्रस्या) घाटाः । पूर्व्वस्यां ब्राह्म०[2] (चाकुलस्कंद) गृहं । ····· दक्षिण गृहं ।

(28) पश्चिमायां संघ० वादागृहं । (उत्तरस्यां श्रीमद्रा) जकीयमद्रा (···) कोट्टडिका । एवं ····· ·· घाटैरुपलक्षित अ (ता) रहट्टमेनम-

(29) वगत्य तद्भूमिखेटकैर्यथादीयमानमागभोगकरहिरण्यादिसर्व्वं सर्व्वदाज्ञाश्रवणविधेयैर्भूत्वा अमु (ष्म) रविदेवा-

(30) य समुपनेतव्यं । सामान्यं चैतत्पुण्यफलं मत्वा अस्मद्वंशजैरन्यैरपि भाविभोक्तृभिरस्मत्प्रदत्त-ब्रह्मदायोयमनुमंतव्यः[3] । पा-

(31) लनीयश्च । उक्तं च भगवता व्यासेन । षष्ठिवर्षसहस्राणि[4] स्वर्गे तिष्ट (ति) भूमिदः । आच्छेता[5] चानुमंता च तायेव[6] नरके वसेत् ॥ १ (॥) यानीह दत्तानि

(32) पुरां नरैंद्रै[7]र्दानानि धर्म्मार्थ[8]यशस्कराणि । निर्म्माल्यवांतिप्रतिमानि तानि को नाम साधु[9] पुनराददीत ॥ २ ॥ वहुभि[10]र्वसुधा भु-

(33) क्ता राजभिः सगरादिभिः । यस्य यस्य यदा (भू) मी तस्य तस्य तदा फलं (।) । ३ ॥ स्वदत्तां परदत्तां वा यो ह-

(34) रेत वसुंधरां । स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह मज्जति (।) ४ ॥ विंध्याटवीष्वतोयासु शुष्ककोटरवा-

(35) सिनः । कृष्णसर्प्पाः[11] प्रजायंते दत्तदानापहारकाः ॥ ५ ॥ दत्वा भूमिं भाविनः पार्थिवेंद्रान[12] भूयो भूयो

---

1 Read ब्रा०

2 Read ब्राह्म०

3 Read ब्रह्मदायो०

4 Read षष्टिवर्षसहस्राणि

5 Read आच्छेत्ता

6 Read तान्येव

7 Read नरेन्द्रै

8 Read धर्म्मार्थ०

9 Read साधुः

10 Read बहुभि०

11 Read कृष्णसर्प्पाः

12 Read पार्थिवेंद्रान्

(36) याचते रामभद्रः । सामान्योऽयंदानधर्म्मो नृपाणां स्वे स्वे काले पालनीयो भवद्भिः ॥ ६ ॥ लिखितमिदं

(37) शासनं मोडान्वयप्रसूतमहाशपटलिक ठ० श्री (क) मरसुन ठ० चोसरिणा । दूतकोऽत्र महासांधिविग्रहि-

(38) क ठ० श्री सूरइ ॐ ॥ श्रीभीमदेवस्य ॥

Editorial Note

The word 'Navati' is probably "Navli" (Navli=नौली Village), a part of Jagir of Ravat of Bambora in the Chhappan province (now in Sarada Tehsil) near Jaisamudra.

Section II. speeches.

THE WESTERN KSHATRAPAS.

THE NAME.

The word Kshatrapa in appearance, seems to be a Sanskrit word meaning, "the protector of the warrior class," but it is found nowhere in the whole range of Sanskrit literature. It is only found in the stone inscriptions and coins of several foreign princes 'who ruled the Northern and Western parts of India in the early centuries of the Christian era, and there too it is used not in the abave sense, but as the title of a King or Royal Officer. It is probably derived from the old Persian word "Kshattrapavan", which means "the protector of a kingdom or a province" (kshattram—a kingdom, or a province, pavan—protector). The word 'satrap' found in Greek history and used for the governor of a province is also derived from the same word. Now the word is used to designate a family whose princes used this title which has been Sanskritised into 'Kshtrapa'.

NORTHERN AND WESTERN KSHATRAPAS.

Between the Ist century B. C. and the 4th century A. D. there existed in India three different and separate kingdoms, two in Northern and one in Western India. The rulers of Takshas'ila (Taxila, in the N.W. Punjab) and Mathura are called by the historians the Northern Kshatrapas, while those who ruled over Western India are called the Western Kshatrapas. In the latter half of the 1st century A.D. probably they

came to this part of India, through sindh and Gujrat, as the Viceroys and Sardars of the great Kushan kings of the North-West, and afterwards extended their away and became independent rulers.

EXTENT OF THEIR SWAY.

When their power was at its height, their possessions included the whole of Malwa, Gujrat, Kathiawar, Kutch, Sindh, Northern, Konkan, and the greater part of Rajputana, including Dungarpur, Banswara, Partabgarh, Mewar, Marwar Kotah, Jhalawar, Sirohi, Kishangarh and Ajmer.

THEIR NATIONALITY.

They often assumed Indian names, but probably they were foreigners of the Saka tribe who came to India from Central Asia. The famous inscription on the Mathura Lion-Capital of the time of Sodasa mentions 'Sakastan', which means the Saka Kingdom. In one of the Nasik inscriptions Ushavadata, the son-in-law of the western Kshatrapa King Nahapana is called a Saka. The use of the Saka era in their inscriptions and coins, and of the Kharosti alphabet in the coins of Nahapan and Chashtana, together with the names Nahapana, Chashtana, Ghsamotika, Damaghsada, etc; are evidences of their foreign origin. Although the Dynasty existed for over three centuries, its members never assumed the titles of Indian Rajas, such as Maharajadhiraja, Parameshvara, Paramabhattaraka, etc; but they always called themselves Kshatrapas when they held a subordinate position or were governors of provinces, and Mahakshatrapas probably when they became independent. They adopted the Brahmanical religion and married into Hindu (Kshatriya) families later on, but the earlier rulers patronised both the Brahmanical and Buddhistic faiths and married their daughters to Sakas, *i. e.* foreigners like themselves.

MATERIALS FOR THEIR HISTORY.

As no ancient written account exists dealing with the history of this family, the only sources of our knowledge are about a dozen inscriptions on stone, several thousand coins of silver and a few of copper.

GENEALOGICAL TABLE.

The accompanying genealogical table is based upon the information referred to above. It will be seen that there were three dynasties with no apparent connection with one another. The number to the left of a name shows the order of his reign. The dates to the right, if prefaced by K., show the time when, according to the evidence of coins, the prince styled himself Kshatrapa, and, if by M. K. the time when he assumed the title of Mahakshatrapa.

CUSTOM of SUCCESSION to THE THRONE.

As is evident from the table, the custom of succession in this dynasty was somewhat peculiar. The eldest son was not the heir of the ruler, as is the case among Rajputs, but the next brother, and after the brothers, the sons came in the order of their fathers, seniority.

BHUMAKA.

He is the earliest known member of this dynasty. A few undated copper coins only have beed found of his reign but from the inscription of the time of his successor his date can be fixed in the last quarter of the first and the beginning of the second century A.D. He belonged to the Kshaharata clan.

NAHAPANA.

This great king extended his dominions at the expense of his neighbours, the Andhra or Andhrabhritya dynasty, and annexed Gujrat, Kathiawar, Kutch, Malwa and a part of the Deccan as far as Nasik.

HIS SON-IN-LAW USHAVADATA.

His daughter Dakshamitra was married to Saka Ushavadata, son of Saka Dinika. Ushavadata seems to have been a very high officer, probably the commander-in-chief, of his father-in-law. As he bears no royal title he must have owed his power and rank to Nahapana.

One year in the rainy season Nahapana sent Ushavadata to the relief of the chief of some Kshatriyas called Uttamabhadras, who had been attacked and besieged by another tribe, the Malavas. Hearing the sound of the martial music of his army, the Malavas fled away and were subjugated by him to the Uttamabhadras. Thence he came to Pushkar (referred to by the vernacular name Pokkharah, in the plural, alluding to the three lakes, Kanishtha, Vriddha, and Brahma Pushkaras), where he gave three hundred thousand cows and a village to the Brahmans. He made a ghat (bathing-place and ferry) on the river Banas. He used to tour in the kingdom of his father-in-law.

He grve sixteen villages to temples and Brahmans and had eight Brahman girls married to Brahmans at Prabhasa (Somanatha in Kathiawar.)

He gave 70,000 karshapanas (silver coins) and 2,000 suvarnas (gold coins) to gods and Brahmans at Dahnu in the Thana District.

He built resthouses and almshouses at Baroach and Dashpur (Mandasor), and made gardens and wells at Govardhan (near Nasik) and Sopara.

He kept ferry-boats across the rivers, Iba (Ambika), Parida (Par), Damanganga, Tapti, Kaneri and Dahnu.

In addition to the above Brahmanical charities, record exists of the following Buddhisstic gifts.

The gift of a cave for residence, and 3,000 karshapanas and 8,000 cocoanut trees to feed and clothe the monks residing therein at Nasik. A village near Karli in the Poona district was also given for the support of monks of the Karli caves.

Nahapana is called a Kshatrapa in that of 124. This shows that he asserted independence after A. D. 120.

DESTRUCTION OF NAHAPANA AND HIS FAMILY.

His aggrandizement brought forth the wrath of his powerful neighbour, King Gotamiputra Shatakarni of the Andhra dynasty, who in or about A.D. 126 destroyed his power and family, and annexed his dominions. Some coins of Nahapana have been found re- struck by the conqueror, and bear the double legend—राज्ञो गोतमिपुतस सिरि सातकणिस struck over the typical राञो छहरातस नहपानस.

CHASHTANA.

This king, son of Ghsamotika, is mentioned by the Greek geographer Ptolemy under the easilyrecognised name of Tiastanes. Ptolemy wrote his book about A. D. 130 and is therefore a contemporary witness. Chashtana ruled over Malwa, Kathiawar and Gujrat. He had either reconquered them from the Andhras, or was in the beginning their Viceroy and then asserted his independence.

UJJAIN THE CAPITAL.

The capital of Chashtana and his descendents was Ujjain, one of the most ancient cities of India on the highway between the western seaboard and the fertile plains of the Ganges. It was famous as a seat of learning and as the Indian Greenwich from which longitudes were reckoned. Here they contin-

ued to rule till their final extinction and absorption into the Gupta Empire.

RUDRADAMAN.

This king, grandson of Chashtana, was the greatest among the Kshatrapas. His inscription on the Sudars'ana lake near Junagarh records, that he assumed the title of Mahakshatrapa and by his own valour gained and became the lord of —

Akaravanti (Eastern and Western Malwa)
Anupa
Anarta (Northern Kathiawar)
Surashtra (Southern Kathiawar)
Svabhra (near Ahmedabad)
Maru (Marwar)
Katchha (Kutch)
Sindhu-Sauvira (Sindh and Multan)
Kukura (Eastern Rajputana)
Aparanta (Northern Konkan)
Nishada (Bhil country)

and other countries. He destroyed the warrior republic of the Yauddheyas (Johiyas) and twice defeated King Satakarni, the lord of the Deccan. This King must be Palumai II Vasishthiputra (Siro Polemaios of Ptolemy), who had married a daughter of Rudradaman. This nearness of connection saved the Andhra king from total destruction.

THE SUDARSHANA LAKE.

An irrigation project having a history extending over eight centuries and commemorating the attempts of four great kings of three important dynasties to utilise it—such is the Sudarshana or the lake beautiful, in Junagarh territory, now in ruins. In the days of the great Maurya king Chandragupta (B. C. 322-297), Pushyamitra the Vaisya, the Viceroy of the

Western provinces, dammed up the streams Palasini and Suvarnasikata and built this lake. During the reign of his grandson, the Emperor Asoka Maurya (B. C. 272-232) channels were made to take water from this lake for irrigation under the Persian Raja Tushaspa, Asoka's governor. The opportunity was taken to record a version of the emperor's immortal edicts on a rock close by. On the 16th November 150 A. D; a violent storm destroyed this embankment; and the then ruler, Rudradaman the Kshtrapa, had it rebuilt, thrice stronger than before, under the supervision of Suvisakha, son of Kulaipa, a Pahlava (Parthian). The opportunity was utilised to record in Sanskrit the interesting history of the lake on the very rock which contained Asoka's edicts in Pali. In spite of Rudradaman's masonry the dam again burst and was repaired in A.D. 458, during the reign of King Skandagupta of the Gupta dynasty, whose grandfather had destroyed the rule of the last Kshatrapa of Western India.

The reign of Rudrasinha I, seems to have been interrupted by the invasion of one Kshatrapa Isvaradatta who ruled for about two years. After Vishvasena, the last of Chastana's line, power passed into the hands of another branch of the Kshatrapas, some of whom are styled Svami (lord).

INCORPORATION OF THEIR KINGDOM IN THE GUPTA EMPIRE.

The last Satrap Swami Rudrasinha III, son of Satyasinha, numbered 21 in the genealogical table, was attacked, dethroned and slain by Chandra Gupta II, Vikramaditya, about 390 A.D. This great king had extended his way from the confines of Assam to as far as Baluchistan and ruled over a considerable part of the Deccan also. The conquest of the Kshatrapa dominions not only added wealthy and fertile provinces to his Empire, but also brought Chandra Gupta II Vikrama-

ditya into touch with the seaborne commerce to Europe through Egypt by the annexation of the Western seaboard of India.

COINAGE.

Their coins are found in Konkan, the district of Nasik, Gujrat, Kathiawar, Cutch, Malwa and Rajputana. In the last-named province they are generally found at Nagari (near Chitor), Pushkar, and other places. The finds of large hoards of Western Kshatrapa coins are mentioned below :—

(1) 13,250 silver coins were discovered in 1906 near the village of Jogalthambi in the Nasik district. They consisted solely of the coins of Nahapana and those of his coins which were restruck by his conqueror Gotamiputra Satakarni.

(2) 1,200 coins of various Kshatrapa kings were found near Uparakot in Junagarh in 1878.

(3) 2,405 silver coins found on a small hill near the village of Survaniya, thana Kalingra, Banswara State.

LANGUAGE OF THE COINS AND INSCRIPTIONS.

The language of the inscriptions of Ushavadata and his wife Dakshamitra is Prakrit *i. e.*, the vernacular of the time, while that of Rudradaman and his successor is Sanskrit. The language of the coins is Sanskrit mixed with Prakrit.

LEGEND AND SCRIPT OF THE COINS.

On the obverse there is the head of the reigning prince wearing a hat. As all the busts are almost alike, no attempt at likeness was perhaps intended. In the earlier coins the inscription is round the head in old Grecian letters, and in the coins of Nahapana and Chashtana, is only a transliteration of the

Brahmi inscription on the reverse; but afterwards the Greek letters were used only as an ornamentation without any meaning. Some coins contain dates behind the head.

On the reverse are symbols representing what is commonly believed to be a Chaitya (Buddhist shrine), but probably Mount Meru with the sun and the moon near it in the centre with a zigzag line beneath. Round them is the inscription in Brahmi (*i. e.,* old Nagari) characters givnig the name and title of the ruling prince as well as, generally, those of his father. In the case of earlier rulers the legend is also in Kharosti script, which was written from right to left and was prevalent in N. W. India. Thus Bhumaka's coins are inscribed :—

छहरदस छत्रपस भुमकस (Kharosti)

क्षहरातस क्षत्रपस भूमकस (Brahmi)

NUMERALS.

The decimal system of notation was not used in those days and the dates given on the coin are very interesting to study. There are symbols for numbers from 1 to 9 (those for the first three numbers are still used in Mahajani accounts to denote annas), and for the tens 10, 20, 30, etc., to 90. There is a symbol for 100 to which the symbols for 2 and 3 are tagged on to show 200, 300. To represent 469, for example, one had to write the symbol for 100 and the symbol for 4 and then join them by a dash, then the symbol for 60 and finally the symbol for 9. The symbol for 90 has no similarity to the symbol for 9.

Mayo College Magzine, Ajmer 19.

******

PRESIDENTIAL ADDRESS.

'Itihasa' in Sanskrit is almost identical with 'History' in English. It is a term of wide connotation and comprises within its scope all that has happened in the past with special reference to political events. This term is found in the S'atapatha Brahmana, the Atharvaveda, the Mahabharata, the Arthasastra of Kautilya and in the Puranas.

India possesses certain natural advantages. Abundance of water and fertility of the land coupled with a congenial climate has ever been a particular source of attraction to adventurers, conquerors and rulers of various countries on the earth. Since times of remote antiquity, millenniwms before the birht of Christ, we find hordes of people pouring in from the north and north-west into the fertile plains of India. The arrival of every invader from the north necessitated warfare between him and the natives of the land. Internecine warfare has also not been foreign to India. In a country which has witnessed centuries of invasions and incessant wars, it is almost impossible to find a connected history of the political events and the social and economic life of the people. Innumerable wars destroyed numerous cities of old, on the ruins of which new ones were founded. Some of the ancient cities have been brought to light by excavations during the last few decades. Taxila, Harappa, Nalanda and Mohenjodaro, rescued from

oblivion by the 'Archæologists' spade, bear ample testimony to the highly advanced state of Indian society in centuries preceding the Christian era. Here I cannot but make reference to my late lamented friend Mr. Rakhaldas Banerji, the famous Indian Archæologist, who had to his credit the discovery of a buried city at Mohenjo-daro which has led Oriental scholars in the east and west seriously to reflect on the problem of the civilisation revealed by the excavations conducted on the site by the Indian Archæological Department. Almost all of us are familiar with the Indus Valley civilisation, a succinct account of which has been recently published in three delightful volumes by Sir John Marshall.

India is a very large country, equal in area to Europe minus Russia. Owing to constant wars, as a result of which many towns were ruined, temples and monasteries demolished and libraries burnt, one cannot expect to find a regular history of this land through the ages. But it should not lead us to conclude that Hindus had no history. Alberuni, the famous scholar and astronomer at the court of Mahmud Ghazni (11th century), writes in his book on India :—

"Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things, they are very careless in relating the chronological succession of their kings, and when they are pressed for information and are at a loss, not knowing what to say, they invariably take to tale-telling".

But the same author further points out: "I have been told that the pedigree of this royal family, written on silk, exists in the fortress Nagarkot and I much desired to make myself acquainted with it, but the thing was impossible for various reasons".

history of ancient and mediæval India is concerned, because the bards were mere panegyrists and never lagged behind in eulogising the deeds of their masters.

At the time of the establishment of the British rule in India, the Indian savants possessed very little knowledge of the history of the various parts of the country, as people gencrally relied upon tradition or information furnished by the bards. For want of facilities of travel, easy communication and printing in the country, the early history of India was practically a sealed book to the world. Little material for a true history of the country was available even to scholars who could understand and appreciate the different stages through which the people of this great and ancient country had passed during the last three or four thousand years. The political changes aud social disintegration, which marked the eight or ten centuries preceding the arrival of the British in India, left little opportunity or inclination in people to study the history or the literature of their country. With the advent of the English and the gradual opening up of the different parts of the country, an interest in its history and literature was awakened, and scholars took to a study of Sanskrit literature and philosophy. This gave rise to a study of Indian archæology, which has, since the beginning of the last century, brought to light much important material for a proper and systematic reconstruction of the history of India. A knowledge of Indian palæography is indispensable for a study of Indian archæology. Ignorance of ancient Indian scripts and the consequent inability on the part of the Pandits to read inscriptions on stone, copper-plates and coins contributed not a little to confused and incorrect ideas on Indian history, which prevailed in the country for a long time. Whatever light modern researches have cast on the dark pages of the early history of India is due, to a large extent, to the labours of the pioneers among

European and Indian scholars who succeeded in tracing out the various forms through which the Indian alphabets have passed. The complete reading of Brahmi and Kharoshthi scripts by Prinsep and others marks the beginning of much valuable work done by European and Indian savants, without which our present knowledge of the early history of India would have been impossible. The foundation of the Asiatic Society of Bengal by Sir William Jones in 1784 A. D. and the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland in 1823 and other similar Oriental research societies in India and Europe heralded the dawn of a new era in the historical and epigraphical research in India.

Importance of the aid of epigraphy in historical researches need not be emphasised here. During the last hundred years, since the commencement of the publication of the Journal of the Asiatic Sociely of Bengal in 1832, innumerable iuscriptions on stone and metal have been brought to light through the indefatigable efforts of Indian and European Orientalists. Pages of Cunningham and Marshall's reports of the Archaeological Survey of India, Progress Reports of the various Archaeological Circles, volumes of the *Sauth India Inscriptions*, the *Indian Antiquary*, the *Epigraphia Indica*, the *Epigraphia Indo-Moslemica*, the *Epigraphia Carnatica*, the *Epigraphia Burmanica*, the *Epigraphia Zylonica*, Journal of the Royal Asiatic Society, Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Journal of the Asiatic Society of Bengal, Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Journal of the Andhra Historical Research Society, Journal of the American Oriental Society, the Indian Historical Quarterly, Journal of Indian History, the Nagari Pracharini Patrika and dozens of other research journals of learned Societies in India and the West are mines of valuable historical information furnished by thousands of stone and metal records discovered and critically edited year after year by enthusiastic epigraphists in India and abroad.

As a result of the discovery of these epigraphs containing information on various matters, it has been possible to know and reconstruct, to some extent, the history of several dynasties, of which I may mention a few, viz. the Nanda, Maurya, Greeks, Andhra, Saka, Parthian, Kushan, Kshatrapa, Abhira, Gupta, Huna, Yaudheya, Bais, Lichchhavi, Parivrajaka, Rajarshitulya, Vakataka, Maukhari, Maitraka, Guhila, Chapotkata, (Chavada), Chaulukya, Pratihara. Paramara' Chahamana (Chauhana), Rashtrakuta, Kachhavaha, Tomara, Kalachuri, Traikutaka, Chandela, Yadava, Gurjara, Mihira, Pala, Sena, Pallava, Chola, Kadamba, Silara, Sendraka, Kakatiya, Naga, Nikumbha, Bana, Matsya, Salankayana, Saila, Mushaka, Reddi, etc.

Although some of the old Sanskrit inscriptions, known as Prasastis, contain eulogistic descriptions of the ruling kings, one has to acknowledge their value as sources of contemporary evidence in fixing the dates of reigning kings and the extent of their kingdoms. Numismatic evidence is also very helpful to a critical historian. The names of most of the Greek rulers of Northern India have been made known to us only from their coins. The coins of western Kshatrapas contain the names of the reigning kings and their fathers with titles and dates. They have been very helpful in preparing the genealogy and the date of Kshatrapa kings. The name of Bappa Raval of Mewar has long been famous in India in myth and legend, but the find of a single gold coin of this ruler by me has confirmed beyond doubt the identity of Bappa. Only last week I was informed by Dr. A. S. Altekar of the Benares Hindu University that he had discovered a new coin of Bappa and written a paper on it in this conference.

A word about handling the Persian sources of mediaeval Indian history will not be out of place. Divested of the hyperbole indulged in by the authors, the historical truth contained

in their writing should be noted. The value of the statements contained in Persian histories, surcharged as they are with religious bias, should be ascertained with sufficient caution by the historian of to-day. It would be in the best interest of the scholar, if he aspires to the distinction of an impartial historian, not to base his statements upon Persian sources alone, but to make it a point also to explore and study all Hindu sources, bardic, inscriptional, numismatic and others; otherwise his works will merely embody the result of a one-sided view.

Before closing, I take the liberty briefly to review the work done in Indian history. As stated before, keen interest in India's past was awakened after the advent of the English in this country. In earlier writings their authors had to rely on hearsay and bardic information in the absence of ample material discovered later through the progress of archaeological work. Colonel James Tod, the father of the Rajput history, has done pioneer work in connection with Rajputana and the results of his labours have been embodied in his *Annals and Antiquities of Rajasthan* and *Travels in western India*. Alexander Forbes did the same for Gujarat in his *Rasamala*. Students of history owe a deep debt of gratitude to Pandit Bhagawan: lal Indraji, Sir Ramkrishna Gopal Bhandarkar and Dr. J. F. Fleet for their monumental work in connection with the early history of Gujarat, and Deccan and Kanarese districts respectively. In the domain of ancient Indian history and chronologyf Mr. Vincent Smith's *Early History of India* and Miss Duff's *Chronolagy of India* stand as pioneer works. Captain J. C. Grant Duff is memorable in the field of Maratha hlstory, although much useful and critical work has been done in recent years by Mr. G. S. Sardesai and enthusiastic researchers. Vast material relatiug the Maratha period of Indian history has been brought to light by the Itihasa-Samsodhak-Mandala, Poona, Siva-charitra-Karyalaya and other institutes.

But it goes without saying that research in Maratha history requires a very careful sifting of the raw material. To give only one instance, even the exact date of Sivaji's birth was not settled until a few years back. Conflicting dates are found in different Marathi Bakhars and the final settlement has been possible only recently after I found Sivaji's *Janmakundali* in an old manuscript which contains about 500 *Janmakundalis* of eminent persons of the past and is dated about 300 years back.

It is very gratifying to note that growing interest in Indian history has been awakened in recent years in Indian Universities. The Calcutta University has in the last few years produced a number of enthusiastic workers in the field of ancient Indian history and culture, and several interesting publications have come out year after year. South Indian scholars have been evincing unstinted enthusiasm for researches in South Indian History and Epigraphy. As pioneer works Sewell's the *Forgotten Empire* and Jouveau Dubreuil's *History of the Deccan* cannot be omitted. The Archaeological departments of the Hyderabad and Mysore States also deserve mention in this connection. In the Allahabad and Aligarh Universities we find efforts made at specialisation of the study of the history of muslim India. Independent labours of certain scholars have also yielded praiseworthy fruit. The late Rakhaldas Banerji's *History of Orissa* in two sumptuous volumes is a monumental work embodying the result of stupendous labour and life-long study of the subject. It is a sad irony of fate that the celebrated author could not see in print the fruit of his labour in his lifetime. Rev.Heras' *Aravidu dynasty of Vijayanagara*, Moraes' *Kadamba-Kula*, Dr. Krishnaswami Aiyangar's *Beginnings of South India History* and Jayachandra Vidyalankara's *Bharatiya Itihasa Ki Ruparekha* are also noteworthy publications. Mr. K. P. Jayaswal's *History of India* is also a very important contribution to the study of the period 150-350 A. D.

In this age of advancement of learning it is but proper to take active steps to give stimulus to historical studies in the various parts of the country. Rulers of Indian States could give invaluble help in furthering the cause of historical studies by establishing historical and archæological departments in their States. Interest in local history may be stimulated by founding historical societies in all prominent cities, where discussions and dissertations on topics of local history may be conducted from time to time and trips to historical sites may be arranged.

I would like to conclude with a piece of advice to young enthusiasts in the field of India epigraphical and historical research. Gradual reconstruction of the history of various parts of India is possible only by bringing together innumerable bits of information that lie scattered in manuscripts, stone inscriptions, copperplates, coins, etc. As it is not always possible to come across this raw material for the history of our land in towns and places connected by railway lines and metalled roads, one must go into the interior of the country for it. There are numerous monuments and sites of historical importance in Rajputana, Central India and other provinces away from the railway lines or metalled roads and situated in jungles and haunts of wild beasts. Craving your indulgence for personal reference I may say that I have for this purpose travelled hundreds of miles in the interior of Rajputana in bullock carts, on foot and camelback etc; and memories of my bitter expriences are still fresh in my mind. In order to quench the thirst for knowledge in this direction a young enthusiast should take delight in travelling by bullock carts, on camels, ponies and even on foot to reach his destination. I know of several places in the interior of Rajputana which have not been visited uptil now by any archæologist on account of their situation, as a visit to them involves great discomfort and

trouble. And a regular archaeological survey of a province is not possible without penetrating into the interior. A researcher's work is, in fact, not like the work of an armchair politician. Gentlemen, in the pursuit of knowledge we must never forget the words of the celebrated poet Kalidasa :—

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते.

****